

रीति काल-स्पेसल

9) सुखदेव मिश्रा - दोलातपुर (रायबरेली)

- ↳ वृत्तविचार
- ↳ छंदविचार
- ↳ फार्जिल अली प्रकाश
- ↳ रसार्णव
- ↳ भृंगार लता
- ↳ अष्टधात्म प्रकाश
- ↳ दशरथ राय

10) कालिदास त्रिवेदी

- ↳ वारवधु विनोद
- ↳ जंजीराबंद
- ↳ राधा माधव बुधामिलन
- ↳ कालिदास हजार - इसके संबंध में शिवसिंह सरोज में लिखा है कि इसमें संवत् 1481 से लेकर संवत् 1776 तक के 218 कवियों के 1000 पद्य संगृहीत हैं। कवियों के काल आदि निर्धारण में यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवीश और पौत्र दुलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

11) राम :-

- ↳ भृंगार सौरभ - नायिका भेद
 - ↳ अनुमान नाटक
- पंक्ति "कहै कवि राम लारी-चमक-स्वदेतन की पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि के ॥"

12) नेताज :-

- मे अन्तर्वेद के रहने वाले ब्राह्मण थे
- पन्ना नरेश महाराजा दत्तसाल के आश्रित थे
- शकुंतला नाटक : सं. 1773
- ↳ दोहा - चौपाई जैली

- पंक्ति ① 'कान्ह विघोरे तिहोर लिरा सिंगरे बज के हँसीखो सहीहैं।'
② 'बावरी ! जो ये कलंक लग्यो तो निसंक हूँ
क्यों नहीं अंक लगावती ... ॥'

14) गीदर / मुरलीधर - जंगनामा

16) कवींद्र (उदयन) - रस चन्द्रोदय, विनोद चंद्रिका

17) गीर्वाण - काव्यसरोज (रीतिग्रन्थ)

→ "काव्यों की निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है।" - शुक्ल

18) वीर - कृष्ण चन्द्रिका

19) कृष्ण कवि - ये छिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं।

20) रसिक सुमति - अलंकार चन्द्रोदय

समय सीमा :-

- 1) शुक्ल - सं. 1700-1800 तक
- 2) विश्वनाथ त्रिपाठी - सन् 1700-1850 तक
- 3) गणपतिचन्द्र गुप्त - सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक
- 4) नवजायम अवधारणा - सन् 1700-1850 या 1857 तक

नामकरण :-

- 1) रीतिकाल - - -> जॉर्ज ग्रिमर्सन
- 2) रीतिकाल - - -> आचार्य शुक्ल / रामकुमार वर्मा
- 3) अलंकार काल - - -> मिश्र बन्धु
- 4) भृंगार काल - - -> विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
- 5) काला-काल - - -> रमाशंकर शुक्ल रसाल
- 6) उत्तर मध्यकाल - - -> कालगत नामकरण - शुक्ल

प्रवृत्तियाँ

- 1) मुख्य प्रवृत्तियाँ - रीति निरूपण, भृंगारिकता
- 2) गौण प्रवृत्तियाँ - राजप्रशंसा, भाव, नीति

विश्वनाथ त्रिपाठी

- निर्दिष्ट काव्य प्रणाली या रीति कविता करना साहित्य का प्रधान लक्ष्य माना गया
- दरबारी प्रसाद द्विवेदी - "इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गई - एक तो उत्पादक वर्ग, जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसानों से संबंध रखने वाली जातियाँ - बूढ़े, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि, और इसी वर्ग भोक्ता (राजा, रईस या नवाब) या भोक्तृत्व का सहायक था।"
- कवियों ने लक्षण-ग्रंथों को कविता करने का बहाना बनाया
- कविता में भाव के स्थान पर लौकिक भृंगारिकता बढ़ी।
- कविता का स्वरूप दरबारी हो गया।
- मुक्तक अधिक लिखे गए।
- प्राकृत-अपभ्रंश की कुछ इहलौकिक काव्य-धारा फिर से प्रवाहित होती दिखाई पड़ती हैं।
- कविता का परम उत्कर्ष छेम के रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है।

सामान्य परिचय

महेन्द्र कुमार - हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं. नौगढ़)

- इस युग में कवि काव्योन्न-चर्चा में उसी प्रकार गौरव का अनुभव करते थे जिस प्रकार कि ब्रह्मरूपन विद्यार्थक चर्चा भारतेकाल में जन-सामान्य के लिए गौरव की बात थी।
- यह काल मुगलों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष और उसके बाद उत्तरेष्टा हास, पतन और विनाश का युग कहा जा सकता है।
- इस युग में सामन्तवाद का बोलबाला था।
- सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी।
- साहित्य और कला की दृष्टि से यह समूह युग था।
- संस्कृत काव्यशास्त्र 'रीति' जट्ट काव्य रचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। मध्ययुगीन कवियों ने भी रीति को इसी अर्थ में अभिहीत किया। यथा:

(1) चिन्तामणि - "रीति सुमहान् कवित्व की वरत बहू अनुसाह"
(कविकुलकल्पतरु)

(2) भूषण - "सुकविन हूँ की कहु कृपा समुद्धि कविन को पंथ"
(शिवराज भूषण)

(3) देव - "अपनी - अपनी रीति के काव्य और कवि रीति"
(शब्दरसाग्रन)

(4) मिश्वरी दास - "काव्य की रीति सिरवों सुकविन्द सो।"
(काव्य निर्णय)

- ① भाषाभूषण - असंत सिंह
② इलहू - कविकुलकल्पतरु
③ रसराज - तुलसीभरण

लक्षणा-ग्रन्थ

- ④ चिन्तामणि - कविकुलकल्पतरु
⑤ मतिराम - रसराज, ललितललाम
अलंकार पंचाशिका
⑥ भूषण - शिवराजभूषण
⑦ देव - भावैलास, शब्दरसाग्रन
रसविलास
⑧ गोप - रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्रभरण
⑨ दास - काव्यनिर्णय, रससारांश
भृंगार निर्णय
⑩ पद्माकर - जगद्विनाय
⑪ जवाल - रसिक गोविन्द

लक्षणा + उदाहरण

शीतकालीन कवियों के कालक्रम

- (1) केशव — 1555-1617 ई.
- (2) बिनायति — 1589 ई.
- (3) बिहारी — 1595-1663 ई.
- (4) रसनिधि — 1603-1660 ई.
- (5) चिन्तामणि — 1609-1685
- (6) मूलण — 1613-1715
- (7) भट्टिराम — 1617
- (8) जसवंत सिंह → 1626-1688
- (9) देव — — — → 1673-1767
- (10) रसलील — — — → 1699-1750
- (11) मिश्वारी दास — — — →
- (12) पद्ममाकर — — — → 1753-1833

रीतिकाल के प्रमुख कवि

१. मुक्तक काव्य

१. चिन्तामणि : कविकुलकल्पतरु, रसविलास, काव्यविवेक, शृंगारमंजरी, काव्यप्रकाश, छन्द-विचार।
२. मतिराम : रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपंचाशिका, वृत्तकौमुदी।
३. भूषण : (i) शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक।
(ii) अलंकारप्रकाश, छन्दोहृदयप्रकाश।
४. बिहारी : सतसई।
५. गोविन्दसिंह : सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर।
६. तोष : सुधानिधि, नखशिख, विनयशतक।
७. रसनिधि : रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीति-संग्रह, अरिल्ल, हिंडोला, सतसई।
८. जसवन्तसिंह : अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्त-बोध, सिद्धान्तसार, भाषाभूषण, स्फुट छन्द।
९. कुलपति मिश्र : रसरहस्य, नखशिख, युक्तिरंगिणी, दुर्गाभक्तिरंगिणी (चन्द्रिका)।
१०. मण्डन : रसरत्नावली, रसविलास, नखशिख, काव्यरत्न, नैनपचासा, जनकपचीसी।

- | | | |
|----------------------|---|---|
| ११. आलम | : | आलमकेलि। |
| १२. वृन्द | : | सतसई। |
| १३. पदुमनदास | : | काव्यमंजरी। |
| १४. करन कवि | : | साहित्यरस, रसकल्लोल। |
| १५. कालिदास त्रिवेदी | : | कालिदास हजार, वरवधूविनोद, जंजीराबन्द, राधामाधव-
बुधमिलन विनोद। |
| १६. लाल कवि | : | विष्णुविलास। |
| १७. माखन | : | श्रीनागपिंगल छन्दविलास। |
| १८. कुमारमणि | : | रसिकरसाल, रसिकरंजन। |
| १९. देव | : | भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रेमचन्द्रिका,
जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, देव-
चरित्र, काव्यरसायन, सुखसागरतरंग, देवशतक,
प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक। |
| २०. सूरति मिश्र | : | अलंकारमाला, रसरत्नमाला, रससरस, रसग्राहकचन्द्रिका,
नखशिख, काव्यसिद्धान्त, रसरत्नाकर, भक्तिविनोद,
शृंगारसागर। |

२१.	जोधराज	:	हम्मीररासो।
२२.	उदयनाथ कवीन्द्र	:	रसचन्द्रोदय, विनोदचन्द्रिका, जोगलीला।
२३.	नृप शम्भू	:	नायिकाभेद, नखशिख।
२४.	कृष्णभट्टदेव ऋषि	:	शृंगाररसमाधुरी।
२५.	जयकृष्ण भुजंग	:	पिंगलरूपदीपमाषा।
२६.	श्रीपति	:	काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकारगंगा।
२७.	गोप	:	रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण।
२८.	याकूब खां	:	रसभूषण।
२९.	घनानन्द	:	सुजानहितप्रबन्ध, कृपाकन्दनिबन्ध, वियोगबेलि, इश्कलाता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक छन्द आदि।
३०.	रसलीन	:	अंगदर्पण, रसप्रबोध, स्फुट छन्द।
३१.	सोमनाथ	:	रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, प्रेमपचीसी।
३२.	दलपतिराय वंशीधर	:	अलंकाररत्नाकर।
३३.	रसिक सुमति	:	अलंकारचन्द्रोदय।
३४.	मिखारीदास	:	काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, रससारांश, छन्दार्णव पिंगल, छन्दप्रकाश।
३५.	कृष्ण कवि	:	अलंकारकलानिधि, गोविन्दविलास।
३६.	भूपति	:	सतसई, कण्ठाभूषण, रसरत्नाकर।

२९० :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

- | | | | |
|-----|----------------|---|--|
| ३७. | रघुनाथ | : | काव्यकलाधर, रसिकमोहन, रसरहस्य, इश्कमहोत्सव, सभासार। |
| ३८. | दुलह | : | कविकुलकण्ठाभरण, स्फुट छन्द। |
| ३९. | हितवृन्दावनदास | : | स्फुट पद (अब तक २०,००० पद उपलब्ध हुए हैं)। |
| ४०. | गिरिधर कविराय | : | अनेक स्फुट छन्द। |
| ४१. | गुमान मिश्र | : | अलंकारदर्पण। |
| ४२. | चन्दन | : | शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश, सतसई, पथिकबोध, तत्त्वसंग्रह, नखशिख, प्राज्ञविलास, पत्रिकाबोध। |
| ४३. | ब्रजवासीदास | : | ब्रजविलास। |
| ४४. | बेरीसाल | : | भाषाभरण। |
| ४५. | शिवनाथ | : | रसवृष्टि। |
| ४६. | उजियारे | : | जुगलरसप्रकाश, रसचन्द्रिका। |
| ४७. | जनराज | : | कवितारसविनोद। |
| ४८. | सेवादास | : | नखशिख, रसदर्पण, गीतामाहात्म्य, अलबेले लाल जू को नखशिख, राधासुधाशतक, रघुनाथ अलंकार। |
| ४९. | रामसिंह | : | अलंकारदर्पण, रसशिरोमणि, रसनिवास, रसविनोद। |
| ५०. | रतन कवि | : | फतेप्रकाश, अलंकारदर्पण। |
| ५१. | हठी जी | : | श्रीराधासुधाशतक। |
| ५२. | बोधा | : | विरहवारीश, इश्कनामा। |

५३.	रामसहाय	: सतसई, वृत्तरंगिणी, वाणीभूषण।
५४.	नन्दकिशोर	: पिंगलप्रकाश।
५५.	दशरथ	: वृत्तविचार।
५६.	रसिकगोविन्द	: रसिकगोविन्दानन्दघन, पिंगल, रसिकगोविन्द, युगलरस- माधुरी, समयप्रबन्ध, लछिमनचन्द्रिका, अष्टदेशभाषा।
५७.	समनेस	: काव्यभूषण, रसिकविलास, पिंगल।
५८.	जसवन्तसिंह द्वितीय	: शृंगारशिरोमणि।
५९.	पद्माकर	: जगद्दिनोद, पद्माभरण, गंगालहरी, प्रबोधपचासा, कलि- पच्चीसी, प्रतापसिंह विरुदावली, स्फुट छन्द।
६०.	पजनेस	: स्फुट छन्द।
६१.	प्रतापसाहि	: व्यंग्यार्थकौमुदी, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, शृंगार- मंजरी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिन्तामणि, काव्य- विनोद, जुगलनखशिख।
६२.	बेनीबंदीजन	: टिकैतराय प्रकाश, भड़ौवा संग्रह, रसविलास।
६३.	बेनी 'प्रवीन'	: नवरसतरंग, शृंगारभूषण, नानारावप्रकाश।
६४.	जगतसिंह	: साहित्यसुधानिधि।

६५. गिरिधरदास : रसरत्नाकर, भारतीभूषण, उत्तरार्धनायिकाभेद।
६६. दीनदयालगिरि : अन्योक्तिकल्पद्रुम, अनुरागबाग, वैराग्यदिनेश, दृष्टान्त तरंगिणी।
६७. अमीरदास : सभामंडन, वृत्तचन्द्रोदय, ब्रजविलास, सतसई, श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु, शेरसिंहप्रकाश।
६८. ग्वाल : यमुनालहरी, भक्तभावन, रसिकानन्द, रसरंग, कृष्ण जू को नखशिख, दूषणदर्पण, राधामाधवमिलन, राधाष्टक, कवि हृदयविनोद, कविदर्पण, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, कुब्जाष्टक, षड्भृत्यवर्णन, अलंकारभ्रमभंजन, रसरूप, दृगशतक।
६९. चन्द्रशेखर वाजपेयी : रसिकविनोद, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, हरिमानसविलास।
७०. नवीन : रंगतरंग, सुधासर।
७१. द्विजदेव : शृंगारलतिका, शृंगारबत्तीसी, शृंगारचालीसी, कविकल्पद्रुम।

२. प्रबन्ध काव्य

१. चिन्तामणि	:	रामायण, रामाश्वमेध, कृष्णचरित ।
२. गोविन्दसिंह	:	चण्डीचरित्र ।
३. मंडन	:	जानकी जू का ब्याह, पुरन्दरमाया ।
४. कुलपति मिश्र	:	द्रोणपर्व (संग्रामसार) ।
५. लालकवि	:	छत्रप्रकाश ।
६. सूरति मिश्र	:	रामचरित, श्रीकृष्णचरित ।
७. श्रीधर	:	जंगनामा ।
८. सोमनाथ	:	पंचाध्यायी, सुजानविलास ।
९. रघुनाथ	:	जगतमोहन ।
१०. गुमान मिश्र	:	नैषधचरित (काव्यकलानिधि) ।
११. सुदन	:	सुजानचरित ।
१२. रामसिंह	:	जुगलविलास ।
१३. चन्दन	:	सीतवसन्त, कृष्णकाव्य ।
१४. पद्माकर	:	हिम्मतबहादुर विरुदावली ।
१५. रसिकगोविन्द	:	रामायणसूचनिका ।
१६. ग्वाल	:	हम्मीर हठ, विजयविनोद, गोपीपच्चीसी ।
१७. चन्द्रशेखर वाजपेयी	:	हम्मीर हठ ।

३. नाटक

- | | | |
|----------------|---|-----------------------|
| १. जसवन्तसिंह | : | प्रबोधचन्द्रोदय नाटक। |
| २. राम | : | हनुमान नाटक। |
| ३. नेवाज | : | शकुन्तला नाटक। |
| ४. सोमनाथ | : | माधवविनोद नाटक। |
| ५. देव | : | देवमायाप्रपंच नाटक। |
| ६. व्रजवासीदास | : | प्रबोधचन्द्रोदय नाटक। |

① रीतिकालीन हिन्दी कविता में संस्कृत के काव्यशास्त्र के आन्धारे और आनुसृतिक काव्य रचना की।

• लक्षणा ग्रंथों के बाद ही लक्ष्य ग्रंथ लिखे जा सके हैं।

ऐन ग्रंथों में पहले किसी शास्त्रीय नियम/रीति के लक्षणा बताए जाते (परिभाषा लिखी-जाते) फिर उसके उदाहरण स्वरूप कविता।

अलंकारमाला (लक्षणा संग्रह)

परिभाषा - काव्य के आभावपूर्ण अर्थों को
अलंकार कहा जाता है।

प्रकार

आनुप्रास - जो किसी पद में एक ही
वर्ण को बार-बार आवाज देता है। उदा० -

"बार बार मैं चंचल हूँ"

अलंकार मंजरी (लक्ष्य ग्रंथ)

चार चित्र और चित्र कि रंग

विवनाथ प्रसाद मिश्र

शीतिवृद्ध (लक्ष्य ग्रंथकार काव्य)

शे. नि. शे. (लक्ष्य ग्रंथकार काव्य)

शे. नि. मु. (अलंकार, रस आदि का प्रामाण्य काव्य के किंतु सिद्ध विद्या-उत्तर)

1. हिन्दू लोक देवी माता हैं। यह 12
बालकें ही मेतक करी हैं।

अंग्रेजों को वर्णभेद एवं हिन्दू को
अशरिफ़ लोग कहा जाता है।

उपरा माता सयूँ औरों राजीपारिक
वों में आती है।

इम हसा मोती तजे इम चुग लिए चकोर॥

✓ 13. केशवदास—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् 1612 में और मृत्यु 1674 के आसपास हुई। ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह की सभा में ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति में रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्यशास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यांगों के निरूपण की ओर कुछ कवियों का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिन्दी काव्यरचना प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रंथों के उपरांत ही लक्षण ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्यचर्चा का प्रचार भाषा में पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनके लिए स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले संवत् 1598 में कृपाराम थोड़ा रसनिरूपण कर चुके थे। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगारसागर' नामक एक ग्रंथ शृंगाररस संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार संबंधी लिखे थे। पर अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया।

ये काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी कवि थे जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होंने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन

आचार्यों का अनुसरण किया जो रस, रीति आदि सब कुछ अलंकार के अंतर्गत ही लेते थे; साहित्यशास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप में लानेवाले मम्मट, आनंदवर्द्धनाचार्य और विश्वनाथ का नहीं। अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसके अंतर्गत वर्णन की प्रणाली ही नहीं, वर्णन के विषय भी ले लिए हैं। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इन्होंने व्यापक अर्थ में किया है। वास्तविक अलंकार इनके विशेष अलंकार ही हैं। अलंकारों के लक्षण इन्होंने दंडी के 'काव्यादर्श' से तथा बहुत सी बातें अमररचित 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और केशव मिश्र कृत 'अलंकारशेखर' से ली हैं।

पर केशव के 50 या 60 वर्ष पीछे हिन्दी में लक्षणग्रंथों की जो परंपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस की प्रधानता माननेवाले काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारों के निरूपण में उसने अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानंद का अनुसरण किया। इसी से केशव के अलंकारलक्षण हिन्दी में प्रचलित अलंकार लक्षणों से नहीं मिलते। केशव ने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिकप्रिया' लिखी।

इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संस्कृत ग्रंथों से ली हुई मिलती है। नामों में अवश्य कहीं कहीं थोड़ा हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। 'उपमा' के जो 22 भेद केशव ने रखे हैं उनमें से 15 तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं, 5 केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे 2 भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमें विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार 'आक्षेप' के जो 9 भेद केशव ने रखे हैं उनमें 4 तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं। पाँचवाँ 'मरणाक्षेप' दंडी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। कविप्रिया का प्रेमालंकार दंडी के (विश्वनाथ के नहीं) 'प्रेयस' का ही नामांतर है। 'उत्तर' अलंकार के चारों भेद वास्तव में पहेलियाँ हैं। कुछ भेदों को दंडी से लेकर भी केशव ने उनका और का और ही अर्थ समझा है।

केशव के रचे सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीरजसचंद्रिका।

केशव को कविहृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचनाकौशल की धाक जमाना चाहते थे, पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त, फालतू शब्दों के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भी अप्रांजल और ऊबड़ खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी

(A) अवस्था - देशीय कारिगरी मालिक के रूप में

(R) नदी - काचपाना जिल्ला क्षेत्र के माथे मा
काँडा-बानी छ ।

① $\frac{1}{2} \rightarrow \frac{1}{2}$

① A जाना R सही

13) दो नो एल

② $A \rightarrow \bar{A}$ $R \rightarrow \overline{A \wedge B}$

(A) - केशव अठिन काटप के पुत्र हैं।

(R) - क्योंकि उन्होंने अपने काटप में जो संस्कार की
उत्तिष्ठों रखी उनको खराब करने का हमारा
उत्तर भी माता में नहीं था।

(A) दोनों गलत

(B) दोनों सही

(C) A गलत R सही

(D) A सही R गलत

24/30

यह त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। ‘प्रसन्नराघव’, ‘हनुमन्नाटक’, ‘अनर्घराघव’, ‘कादंबरी’ और ‘नैषध’ की बहुत सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया गया है। कहीं कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है, जैसे—प्रसन्नराघव के ‘प्रियतमपदैरंकितान्भूमिभागान्’ का अनुवाद ‘प्यौ पदपंकज ऊपर’ करके केशव ने उक्ति को एकदम बिगाड़ डाला है। हाँ, जिन उक्तियों में जटिलता नहीं है—समास शैली का आश्रय नहीं लिया गया है—उनके अनुवाद में कहीं कहीं बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, जैसे—भरत के प्रश्न और कैकेयी के उत्तर में—

‘मातु, कहाँ नृप तात? गए सुरलोकहिं; क्यों?’ सुत शोक लिए।’ जो कि हनुमन्नाटक के एक श्लोक का अनुवाद है।

केशव ने दो प्रबंधकाव्य लिखे—एक ‘वीरसिंहदेवचरित’ दूसरा ‘रामचंद्रिका’। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा है, दान, लोभ आदि के संवाद भरे हैं। ‘रामचंद्रिका’ अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव उक्तिवैचित्र्य और शब्दक्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध रचना के नहीं। प्रबंध पटुता उनमें कुछ भी न थी। प्रबंधकाव्य के लिए तीन बातें अनिवार्य हैं—(1) संबंध निर्वाह, (2) कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और (3) दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

जारी मामक स्थला का पहचान जारी (3) दूसरा बात रामचंद्रिका का संबंधनिर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी 'रामचंद्रिका' अलग अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलनेवाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं। दूसरी बात भी केशव में कम पाई जाती है। रामायण की कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती। उन्हें एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिए राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि 'किधौं मुनिशाप हत, किधौं ब्रह्म दोष रत, किधौं कोऊ ठग हौ।' ऐसा अलौकिक सौंदर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिए कठिन था।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local Colour) केशव की रचनाओं में ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है। पहली बात तो यह है कि केशव के लिए प्राकृतिक दृश्यों में कोई

आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओं का निरीक्षण करने क्यों जाते? दूसरी बात यह है कि केशव के बहुत पहले से ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्यवर्णनों में देशगत विशेषताओं का जो रंग पाया जाता है वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रुढ़ हो गए। चारों ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होंने यह कहकर कि—
देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,

ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री॥

साफ दे दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृत दृश्यों के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है? पंचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलों में शब्दसाम्य के आधार पर श्लेष के एक भद्दे खेलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। केवल शब्दसाम्य के सहारे जो उपमान लाए गए हैं के किसी रमणीय दृश्य से उत्पन्न सौंदर्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल हैं—जैसे प्रलयकाल, पांडव, सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्यवर्णन में जो उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई हैं, वे भी सौंदर्य की भावना में वृद्धि करने के स्थान पर कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौरे पर यह उक्ति—

केशव केशवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपरे सोहै।

पर कहीं कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते हैं;
जैसे—जनकपुर के सूर्योदय वर्णन में, जिसमें 'कापालिक काल' को छोड़कर
और सब उपमान रमणीय हैं।

सारांश यह कि प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति । परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे—युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाटबाट तथा शृंगार और वीररस) फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे । इसी से बहुत से वर्णन, यों ही बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गए हैं । वे वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से । कहीं कहीं तो उन्होंने उचित अनुचित की भी परवाह नहीं की है, जैसे—भरत की चित्रकूट यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क भड़क का वर्णन । अनेक प्रकार के सूखे सूखे उपदेश भी बीच बीच में रखना वे नहीं भूलते थे । दानमहिमा, लोभनिंदा के लिए तो वे प्रायः जगह निकाल लिया करते थे । उपदेशों का समावेश दो-एक जगह तो पात्र का बिना विचार किए अत्यंत अनुचित और भद्दे रूप में किया गया है, जैसे—वन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश ।

रामचंद्रिका के लंबे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्ष पर न थी । उनका मन राजसी ठाट-बाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल पहल आदि के वर्णन में ही विशेषतः लगता है ।

केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है, आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए। पददोष, वाक्यदोष आदि तो बिना प्रयास जगह जगह मिल सकते हैं। कहीं कहीं उपमान भी बहुत हीन और बेमेल हैं; जैसे, राम की वियोग दशा के वर्णन में यह वाक्य—

‘बासर की संपत्ति उलूक ज्यों न चितवत।’

रामचंद्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है (जैसे—लक्ष्मण, राम, परशुराम संवाद तथा लवकुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँवपेंच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है। ‘रामचंद्रिका’ और ‘कविप्रिया’ दोनों का रचनाकाल कवि ने 1658 दिया है; केवल मास में अंतर है।

रसिकप्रिया (संवत् 1648) की रचना प्रौढ़ है। उदाहरणों में चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है और पदविन्यास भी अच्छे हैं। इन उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है। ‘विज्ञानगीता’ संस्कृत के ‘प्रबोधचंद्रोदय नाटक’ के ढंग की पुस्तक है। ‘रतनबावनी’ में इंद्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों में अच्छा वर्णन है। यह वीररस का अच्छा काव्य है।

रत्नासह का पारता का उन्मयता न जानता ।
केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे
न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला ।
कहते हैं, वे रसिक जीव थे । एक दिन बुढ़े होने पर किसी कुएँ पर बैठे थे । वहाँ
स्त्रियों ने 'बाबा' कहकर संबोधन किया । इस पर इनके मुँह से यह दोहा निकला—

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं ।

चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

केशवदास की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जौ हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हितहानि नाहिं सहनो॥

‘भावै सो करहु’ तौ उदासभाव प्राननाथ !
‘साथ लै चलहु’ कैसे लोकलाज बहनो॥

केशवदास की सौं तुम सुनहु, छबीले लाल,
चलेही बनत जौ पै नाहीं राज रहनो ।

जैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

चंचल न हूँ नाथ, अंचल न खेंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीप दुति चंद्रमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै बिडारि देऊँ,
भायो तुम्हें केसव सो मोहूँ मन भायो जू।
छल के निवास ऐसे वचन विलास सुनि,
सौ गुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

कैटभ सो नरकासुर सो पल में मधु सो मुर सो जिन मार्यो।
लोक चतुर्दश रक्षक केसव पूरन वेद पुरान विचार्यो॥
श्री कमला कुच कुंकुम मंडन पंडित देव अदेव निहार्यो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसार्यो॥

(रामचंद्रिका से)

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राननाथ भय ।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौ मंगल घट ।
किधौ शक्र को छत्र मद्यो मानिक मयूख पट॥
कै सोनितकलित कपाल यह किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधौ लसत दिग भामिनि के भाल को॥

विधि के समान है विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुधयुत मेरु सो अचल है ।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है ।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधौ सूरज अमल है ।
सब विधि समर्थ राजै राजा दशरथ,
भागीरथ पथ गामी गंगा कैसो जल है॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय ।
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय ।
दुर्गति दुर्गन ही, जो कुटिलगति सरितन ही में ।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥

चित्र-योजना की अपेक्षा होती है उसको वह प्रायः उपेक्षित ही कर गया है। इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाटबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यन्त निखरा हुआ प्रतीत होता है। अभिव्यञ्जना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल कहा जायेगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिए जिन उपमानों की अपेक्षा होती है उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त छन्दों में भी कहीं-कहीं अनगढ़पन है। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंडापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है—अधिकांश विदग्ध-उक्तियाँ संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपान्तरमात्र हैं। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कला-शिल्प की दृष्टि से मूल्यवान् बना सकते; इसमें सन्देह है। इनकी कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारि दे री बावरी न बारि हिए होरी सी।
राधा हरि के री प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाह हू में देखो रति थोरी सी॥
तिनहुँ में भेद न भवानि हूँ पै पार्यो जाइ,
भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै है नैनन की जोरी सी॥

रहीम : हिन्दी में केशव के बाद रीति-निरूपण-कर्म में रीतिकाल के अनेक कवियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने के बाद अब्दुरहीम खानखाना को भक्तिकाल और रीतिकाल को जोड़नेवाले कवियों की श्रेणी में महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। रीतिकवि के रूप में इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं—'नायिकाभेद' और 'नगरशोभा'। नायिकाभेद में नायक-नायिकाभेद का तथा 'नगरशोभा' में विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'नायिकाभेद' की रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी है और इसमें नायक-नायिका के अतिरिक्त सखी और उसके कर्मों तथा चतुर्विध दर्शन का वर्णन बरवै छन्द में किया गया है। इस ग्रन्थ में एक-दो लक्षणपरक छन्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें संकलित जो बरवै छन्द आज मिलते हैं, वे मूल ग्रन्थ के उदाहरणमात्र हैं—लक्षणपरक छन्दों में से अधिकांश लुप्त हो गये हैं। जो हो, इस ग्रन्थ के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने अत्यन्त मनोयोग के साथ अपने विषय का विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से इसका भले ही महत्व न हो, किन्तु स्वच्छ, सुबोध, सरस एवं संक्षिप्त विवेचन की दृष्टि से यह अपने-आपमें अद्वितीय रचना है। अवधी भाषा में लिखे गये रीति-निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों में सम्भवतः यह प्रथम है। यही बात 'नगरशोभा' के विषय में कही जा सकती है। इसका आधार यद्यपि कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं रहा, तथापि इसमें भी कोई नयी बात नहीं है—वर्णव्यवसाय के आधार पर दस प्रकार की सखियों का वर्णन केशव की 'रसिकप्रिया' में भी हुआ है।

हो सकता है कि वहीं से संकेत ग्रहण कर इन्होंने नायिकाभेद का यह आधार बना लिया हो। वैसे भी, शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार की उद्भावना का महत्त्व नहीं; कारण, नायिकाभेद का मूल आधार स्त्री का पुरुष के प्रति अथवा पुरुष का स्त्री के प्रति रतिभाव है, जिसका इन भेदों के मूल में कोई स्थान नहीं। पर चूंकि देव आदि रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है, अतएव इस दिशा में ये उनके प्रेरक तो कहे ही जा सकते हैं। जहां तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनकी रचनाएं सरस हैं। भक्ति और नीति-जैसे शुष्क विषयों को भी इन्होंने कान्तासम्मत उपदेश का सरस रूप दे दिया है। ये सीधी-सादी बात को सीधे-सादे शब्दों में कुछ इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि तद्गत बिम्ब की स्वच्छ रेखाएं सहृदय के मनःपट पर उभरकर गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि ने अपनी रचनाओं में वैयक्तिक एवं लोक के अनुभवों को ही स्थान दिया है—दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय लेकर विचित्र अनुभूतियों का सन्निवेश करने का प्रयत्न नहीं किया।

सुन्दर कविराय : लक्षण-उदाहरण की रीति-निरूपण-शैली में शृंगार रस को रसराज मानकर उसके आलम्बन नायक-नायिकाभेद का विशेष तथा इतर अंगों का सामान्य विवेचन कर सुन्दर कविराय ने इस युग के केशव, सेनापति आदि रीतिकारों और रीतिकाल के इन विषयों के विवेचक कवियों के बीच की कड़ी को जोड़ने का कार्य किया है। ये जाति के ब्राह्मण और ग्वालियर के रहनेवाले थे तथा इन्हें शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था। 'सुन्दर शृंगार' (१६३१) इनका नायक-नायिकाभेद और शृंगार-रस-निरूपण सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके साथ ही इसमें सखी-कर्म और दूती-भेद, नायक-भेद और नर्मसचिव, दर्शन-भेद, संयोग शृंगार और हाव-भाव, विप्रलम्भ शृंगार और दश कामदशाओं तथा उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और

उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्दों में। विवेचन का आधार मुख्य रूप से मानुदत्त की 'रसमंजरी' प्रतीत होती है—अन्तर केवल इतना ही है कि नायिकाभेद में मध्या के अतिविश्रब्ध नवोद्ग, परकीया के कन्यका तथा नायक के प्रोषितपति और प्रोषितवैशिक भेदों को जहां इन्होंने स्वीकार नहीं किया है, वहां रूप और प्रेम के आधार पर मानी नायक के दो उपभेदों की उद्भावना की है तथा कामशास्त्र के आधार पर पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का सन्निवेश केशव के समान किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व नहीं है, पर सुबोध लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों ने इसे अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके अतिरिक्त भाव, भाषा आदि की दृष्टि से भी यह अपने-आपमें पर्याप्त कवित्वपूर्ण है—स्वच्छ, गम्भीर भावों की प्रसादगुण-सम्पन्न स्वच्छ भाषा में अभिव्यक्ति से इनकी कविता सामान्यतः सरस बन गयी है।^३

न्यामत खां जान : केशव और चिन्तामणि के बीच विविधांग-निरूपण-शृङ्खला की कड़ी के रूप में न्यामत खां जान का नाम भी लिया जा सकता है।^४ अधिकांशतः प्रेममार्गी ग्रन्थों की रचना करने के कारण ये यद्यपि मुख्य रूप से प्रेममार्गी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्यांग-निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना में मनोयोग प्रदर्शित करने के कारण इन्हें भक्तिकाल के अन्तिम चरण के उन रीतिनिरूपकों की श्रेणी में भी सहज ही परिगणित किया जा सकता है जिन्होंने रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया। सम्प्रति इनके रीतिनिरूपण सम्बन्धी चार ग्रन्थ—रसकोश (१६१९), कविवल्लभ (१६४७), सिंगारतिलक (१६५२) तथा रसमंजरी (१६५२) ही उपलब्ध हैं। इनमें 'रसकोश' जहां नवरस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन सम्बन्धी है,

वहाँ 'कविवल्लभ' में दोष, गुण, अलंकार और छन्द का विवेचन किया गया है—शेष दो क्रमशः रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने यद्यपि अपने विवेचन के आधार को स्पष्ट नहीं किया, तथापि लक्षणों को देखने से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने भानुदत्त, रुद्रभट्ट और दण्डी के ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया है—छन्दोविवेचन के लिए 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' जैसे प्रचलित आधार-ग्रन्थों के स्थान पर ब्रजभाषा के किसी छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थ को आधार बनाया गया है। कतिपय लक्षण ऐसे भी हैं जिन पर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव स्पष्ट है। अतएव कह सकते हैं कि लक्षणों की रचना में इन्होंने यथारुचि संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को आधार बनाया है, जो इनके दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचायक है। मौलिकता की दृष्टि से इनमें कोई नवीन बात देखने को नहीं मिलती—सामान्यतः प्रकारान्तर से वही बातें विवेच्य विषयों सम्बन्धी लक्षणों में कही गयी हैं, जो पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों तथा केशव आदि हिन्दी-रीतिनिरूपकों द्वारा कही गयी हैं। हाँ, भाषा के व्यास और समास नामक परम्परा-प्रचलित दो भेद बताते हुए अपने लक्ष्य ग्रन्थों में इन्होंने काव्य-भाषा के विषय में जो यह कहा है :

अच्छर सरल सरल ही भाव, समझत ही बाढ़ै चित चाव ।

अच्छर सरल होइ सुघ भाषा, ताकी सब करिहैं अभिलाषा ।।

ऊकति विसेष सांचु कै जानहु, भाषा जो आवै सो जानहु ।

ऊकति भली भाषा मैं आवै, तौ यह सोना सुगन्ध कहावै ।।

उसके आधार पर यह सहज ही स्थापित किया जा सकता है कि इनके समय तक आते-आते कविता को कविजन कला के रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त तद्विषयक निमित्त दृष्टिकोण भी रखने लगे थे। जान ने कदाचित् इसीलिए केवल उन्हीं काव्यांगों का विवेचन किया है जिनकी उपस्थिति अथवा बहिष्कार काव्योक्ति को सुन्दर बनाने के लिए अनिवार्य है। विवेच्य काव्यांगों के विषय में इनके ये विचार द्रष्टव्य हैं :

- (अ) भोजन नीरस लागिहै, लौन बिना कहि जान।
त्यौं नौ रस बिनु ग्रन्थ है, ताते करौं बखान॥
- (आ) गुननि सहित दूषन रहित, कवित नारि आकार।
अलंकार, बिनु यौं लगत, ज्यौं तिय बिनु शृंगार॥

कहना न होगा कि ये विचार मौलिक न होते हुए भी इनके निम्नान्त दृष्टिकोण के परिचायक होने के कारण इनके आत्मविश्वास को भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि इनके लक्षण सामान्यतः स्वच्छ एवं सुबोध बन पड़े हैं—इनके दृष्टिकोण से भले ही कोई सहमत न हो, पर उसमें किसी प्रकार का कलुष नहीं देख सकता। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतने स्पष्ट विचार रखते हुए एवं ७१ ग्रन्थों की रचना करने पर भी इनका कवित्व अत्यन्त साधारण स्तर पर ही रह गया है। वास्तव में इन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रयोग कविता के स्थान पर यदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन में ही किया होता, तो सम्भव है कि ये कुछ अधिक स्थायी योगदान कर गये होते।

अन्य रीतिकार : रीतिनिरूपण में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेनेवाले कवियों के साथ ही भक्तिकाल के अन्त में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति-प्रभावित काव्य की रचना कर रीतिकाल

के लिए उस क्षेत्र में भी पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—बलभद्र मिश्र और मुबारक। ओरछा-निवासी कवि बलभद्र (रचना-काल = १५८० ई.) हिन्दी के ख्यातनामा कवि केशवदास के अग्रज थे। इनके द्वारा लिखित पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—शिखनख बलभद्री व्याकरण, गोवर्द्धन सतसई टीका, हनुमन्नाटक तथा दूषण विचार। इस समय इनमें से प्रथम कृति ही उपलब्ध है। इसमें नायिका की अंग-छवि का नखशिख-पर्यन्त स्वच्छ आलंकारिक वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन में तन्मयता के साथ ही कवि ने भाषा पर अपने अधिकार का भी असन्दिग्ध प्रमाण दिया है। इनके परवर्ती कवियों में मोहनलाल मिश्र (रचना-काल = १५८९ ई.) के 'शृंगारसागर' का भी उल्लेख किया जाता है, किन्तु यह कृति सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। मुबारक (रचना-काल = १६२३ ई.) की 'तिल शतक' और 'अलक शतक' नखशिख-वर्णन सम्बन्धी संक्षिप्त कृतियाँ हैं जिनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के माध्यम से सरस कल्पनामूलक रूप-चित्रण मिलता है। भक्तिकालीन रीतिकाव्य में ये अपने ढंग की एकमात्र कृतियाँ हैं।

इनमें से काव्यप्रसिद्ध कवियों का परिचय देना उचित होगा।

चिन्तामणि : रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। एक जनश्रुति के आधार पर लोग अब तक इन्हें तिकवांपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र तथा मतिराम, भूषण और जटाशंकर नामक प्रसिद्ध कवियों के सहोदर के रूप में स्वीकार करते चले आ रहे हैं; किन्तु अधुनातन शोधों द्वारा यह सब भ्रामक सिद्ध हो चुका है। वास्तव में ये उत्तरप्रदेश के जिला फतेहपुर में स्थित कोंडा जहानाबाद के रहने वाले थे और राजा हम्मीर के कहने से भूषण और मतिराम के साथ तिकवांपुर में आ बसे थे। ये शाहजी भोंसला, शाहजहां और दाराशिकोह के आश्रय में रहे। इनका जन्म १६०० ई. के लगभग तथा मृत्युकाल १६८०-८५ के आसपास ठहरता है। इनके द्वारा रचे हुए ये नौ ग्रन्थ बताये जाते हैं—रसविलास, छन्दविचार पिंगल, शृंगारमंजरी, कविकुलकल्पतरु, कृष्णचरित, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कवित्तविचार और रामायण। इनमें आज प्रथम पांच ही उपलब्ध हैं। 'रसविलास', रस-विवेचन का ग्रन्थ है। इसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त घनंजय के 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय दिया गया है। 'शृंगारमंजरी' आन्ध्र के सन्त अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' के संस्कृत-अनुवाद का

ब्रजभाषा में अनुवाद है। यह नायक-नायिकाभेद का ग्रन्थ है। 'कविकुलकल्पतरु' में मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', घनंजय के 'दशरूपक', अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर काव्य के दशांगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'छन्दविचारपिंगल' के अन्तर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' तथा भट्टकेशव के 'वृत्तरत्नाकर' के आधार पर कृष्ण का चरित्र-वर्णन किया गया है।

चिन्तामणि ने रीतिनिरूपण को अत्यन्त गम्भीरता एवं निष्ठा के साथ ग्रहण किया है। इनके विवेचन की विशेषता इस बात में निहित है कि लक्षण देने से पूर्व ये सभी आधार ग्रन्थों में दिये गये लक्षणों को तोलकर देखते हैं और उनमें जो इन्हें ठीक जंचता है उसे ग्रहण कर लेते हैं। यदि आवश्यकता होती है तो उसमें फेर-बदल भी कर लेते हैं। किन्तु, इतनी व्यापक दृष्टि होते हुए भी इस दिशा में ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर पाये—सामान्यतः लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों के लक्षणों के ब्रजभाषा में अनुवाद ही रहे हैं। वैसे, इतना निश्चित है कि इनका विवेचन स्वच्छ है, जिसके लिए इन्होंने लक्षणों और उदाहरणों की रचना एक-दूसरे के अनुसार ही नहीं की, विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति का प्रयोग भी किया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, कवित्व की दृष्टि से भी इनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। सिद्धान्ततः रसवादी होने के कारण इनकी कविता में शृंगार, वीर, वात्सल्य एवं भक्ति रसों का सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह कहना असंगत न होगा कि इनकी कविता में भावों के आवेग तथा कल्पना की ऊंची उड़ान के स्थान पर सीधी-सादी शब्दावली में सच्ची अनुभूति की अभिव्यक्ति है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी इनका काव्य परिष्कृत कहा जा सकता है। पूर्वी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होंने ब्रजभाषा का स्वच्छ प्रयोग किया है। वास्तव में केशव के पश्चात्

निवासा हात हुए भा इन्होंने ब्रजभाषा का स्वच्छ प्रयोग किया है। वास्तव में कश्यप का परपात सम्भवतः ये ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने भाषा को नियमानुसार व्यवहृत किया है। पदावली में सामान्य रूप से लालित्य और अनुप्रास-योजना मिलती है। रसवादी होने के कारण इन्होंने अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्ष के लिए ही किया है। इनकी छन्द-योजना भी सुन्दर कही जा सकती है। कवित्व और सवैया का प्रयोग इन्होंने सर्वाधिक किया है। इनमें परवर्ती कवियों के समान यद्यपि स्वर और लय की अधिक संगति नहीं है, तथापि पूर्ववर्तियों का-सा अनगढ़पन भी नहीं है। एक उदाहरण देखिए :

अवलोकनि में पलकैं न लगे, पलकौ अवलोकि बिना ललकै।

पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकै।।

तिय की बिहंसौही बिलोकनि में 'मनि' आनंद आँखिन यों झलकै।

रसवत कवित्तन को रस ज्यों अखसन के ऊपर ह्वै छलकै।।

कुलपति मिश्र : चिन्तामणि की परम्परा में आनेवाले इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य कुलपति मिश्र हैं। इनके अपने साक्ष्य के अनुसार ये आगरा-निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे तथा जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के आश्रय में रहते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा थे। इनका कविता-काल १६६०-१७०० ई. के बीच ठहरता है। इनके द्वारा 'रसरहस्य', 'संग्रामसार', 'दुर्गाभक्तिचन्द्रिका', 'मुक्तितरंगिणी' तथा 'नस्तशिख'—ये पांच ग्रन्थ रचे हुए कहे जाते हैं। किन्तु, आज इनमें प्रथम तीन ही प्राप्त हैं। इनमें 'संग्रामसार' महाभारत के द्रोणपर्व का तथा 'दुर्गाभक्तिचन्द्रिका', 'दुर्गासप्तशती' का पद्यबद्ध अनुवाद है।

'रसरहस्य' (१६७०) मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' के आधार पर रचा गया काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर आठ वृत्तान्त हैं जिनमें क्रमशः काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-पुरुष-रूपक और काव्य-भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार नायक-नायिकाभेद और छन्द के अतिरिक्त इन्होंने सभी काव्यांगों का विवेचन किया है। इसमें अलंकारों के विवेचन में 'साहित्यदर्पण' का तथा ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में हुए रस-विवेचन में 'साहित्यदर्पण' और 'रसिकप्रिया' का आश्रय ग्रहण किया गया है—शेष काव्यांगों का विवेचन 'काव्यप्रकाश' के आधार पर हुआ है। इनके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य आचार्यों से भी यथावश्यक प्रभाव ग्रहण किया गया है। इन्होंने अपने निष्कर्ष पर्याप्त चिन्तन के बाद दिये हैं। यही कारण है कि इनमें कहीं तो पूर्ववर्तियों के मतों का समन्वय दृष्टिगत होता है और कहीं पर स्वतन्त्र चिन्तन के परिणामस्वरूप नवीन मत का आभास मिलता है। गम्भीर चिन्तन के समान इनकी विवेचन-शैली भी गम्भीर है। अन्य कवियों की भांति ये मात्र लक्षण-उदाहरण ही नहीं देते, एक विषय पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए जब अपना मत देते हैं, तो उसकी व्याख्या ब्रजभाषा-गद्य के द्वारा करते चलते हैं—कहीं-कहीं लक्षणों एवं उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिए भी गद्य का आश्रय लिया गया है।

जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनका काव्य साधारण कोटि का ही कहा जायेगा। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने यद्यपि रस-ध्वनि की स्थापना की है, तथापि ये अपनी रचनाओं में इसका सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाये। यह ठीक है कि इनकी कविता नितान्त नीरस नहीं, तथापि इसके भीतर कल्पना-व्यापार-जन्य रमणीक बिम्बों के अभाव के कारण प्राविधिकता आ जाने से ये प्रथम

श्रेणी के कवियों के वर्ग से बाहर पड़ जाते हैं। इधर व्याकरण एवं शब्दों के स्वच्छ प्रयोग के कारण इनकी भाषा यद्यपि आदर्श कही जा सकती है, तथापि उसमें विषयानुरूप सौष्ठव न आ सकने के कारण वह सौन्दर्य नहीं आ पाया जो सरस काव्य के लिए अपेक्षित होता है। वस्तुतः आचार्य-कर्म में ये जितने सफल हैं, कवि-कर्म में उतने ही असफल रहे हैं। ये आचार्य पहले हैं और कवि बाद में। उदाहरण के लिए 'रसरहस्य' का यह अंश देखिए :

एक रूप ही अर्थ बहु, जहां कहैं कवि लोय।
नयो रूप लखिये नहीं, अनविकृत है सोय॥

यथा—

रूप की रासि भये तौ कहा रु कहा भयो जो गुन सागर गाह्यौ।
बन्धु अनेक भये तौ कहा रु कहा भयो जो अरि को उर दाह्यौ॥
हाथी तुरंग भये तौ कहा रु कहा भयो जग दान सराह्यौ।
लाखन साल जिये तौ कहा रु कहा भयो जो जग नेह निबाह्यौ॥

टीका : यहां वांछित अर्थ का इन दृष्टान्तों ने पोषण नहीं किया। इस कारण यहां पर यह कहना उचित है कि 'हरि सों जग जो नहिं नेह निबाह्यौ।'

कुमारमणि : कुमारमणि शास्त्री चिन्तामणि, कुलपति आदि की परम्परा के ध्वनिरसवादी आचार्य हैं। इनका जन्म १६६५ ई. के आसपास ठहरता है। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—रसिकरंजन

(१७०८) और रसिकरसाल (१७१९)। 'रसिकरंजन' संस्कृत-कवियों की सूक्तियों का संग्रह है और 'रसिकरसाल' में क्रमशः काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-मेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायिकाभेद, गुणीभूत व्यंग्य, शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण और दोष का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ किन्हीं रामनरेश के आश्रय में लिखा गया है। इनके रीति-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्पष्ट और सीधी भाषा में विभिन्न विषयों का निरूपण गम्भीरतापूर्वक किया गया है। इनका आधार यद्यपि 'काव्यप्रकाश' है, तथापि ये सर्वत्र मम्मट का अन्धानुकरण करते प्रतीत नहीं होते—विश्वनाथ और पण्डितराज के ग्रन्थों का आश्रय लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। नायिकाभेद-विवेचन में अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' इनका आदर्श रही है। इनके लक्षण और उदाहरण स्वच्छ एवं सुबोध होने के साथ इनके विवेचन की प्रौढ़ता के परिचायक रहे हैं। सीधी-सरल भाषा में सीधे-सरल विषयों को इन्होंने जिस कौशल के साथ प्रस्तुत किया है, वह इन्हें इस युग के अच्छे कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देता है। इनके काव्यों को पढ़कर भाषा-शैली आदि की दृष्टि से पूर्ववर्तियों में मतिराम की और परवर्तियों में पद्माकर की कविता का स्मरण हो आता है।

देख : रीतिकालीन रीतिकाव्य जिन कवियों के कृतित्व के कारण प्रतिष्ठित हुआ, उनमें कवि देव विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विभिन्न ग्रन्थों में अपने विषय में जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म इटावा (उत्तरप्रदेश) के चोसरिया ब्राह्मण-परिवार में १६७३ ई. में हुआ था। अपने जीवन-काल में ये अनेक राजा-रईसों और नवाबों के आश्रय में रहे। इनमें कुछ के नाम ये हैं—१. आजमशाह, २. चर्खापति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य, ३. फर्रुख रियासत के राजा कुशलसिंह, ४. किसी स्थान के राजा अथवा सेठ भोगीलाल, ५. इटावा के

निकटवर्ती इयोडिया खेरा के राजा उद्योतसिंह, ६. दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि, ७. पिहानी के अधिपति अली अकबर खां। इनकी मृत्यु अनुमानतः १७६७ ई. के आसपास हुई।

कवि देव द्वारा रचित ७२ ग्रन्थ बताये जाते हैं, किन्तु आज ये १५ ही उपलब्ध हैं—भावाविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, देवचरित्र, रसविलास, प्रेम-चन्द्रिका, सुजानविनोद, काव्यरसायन (शब्दरसायन), सुखसागरतरंग, रागरत्नाकर, देवशतक और देवमायाप्रपंच। इनमें 'प्रेमचन्द्रिका' में विषय-वासना के तिरस्कार, प्रेम के माहात्म्य और उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। 'रागरत्नाकर' संगीतविषयक लक्षण-ग्रन्थ है। 'देवशतक' अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है जिसमें जीवन और जगत् की असारता, ब्रह्मतत्त्व तथा प्रेम के माहात्म्य का वर्णन है। 'देवचरित्र' कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य है। 'देव-मायाप्रपंच' संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष ग्रन्थ काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी हैं। इनमें 'भावाविलास' (१६८९) के अन्तर्गत रस-सामग्री और रस-भेदों—विशेषतः स्नैहार रस और नायक-नायिकाभेद तथा ३९ अलंकारों के विवेचन में भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', भामह के 'काव्यालंकार', दण्डी के 'काव्यादर्श' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' का आश्रय लिया गया है। 'शब्दरसायन' में क्रमशः काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, नवरस, नायक-नायिकाभेद, रीति, गुण, वृत्ति, अलंकार और पिंगल का विवेचन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। शेष ग्रन्थों में नायक-नायिकाभेद और स्नैहार रस से सम्बद्ध विवेचन है जिसका मूल आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम का 'बरवै नायिकाभेद' आदि ग्रन्थ रहे हैं—'सुखसागरतरंग' इन विषयों

से सम्बद्ध कवित्त-सवैयाओं का संग्रह है तथा 'अष्टयाम' में दिन के आठ पहरों के बीच होनेवाले नायक-नायिका के विविध विलासों का वर्णन है। इन ग्रन्थों की रचना १६८९-१७६७ ई. के बीच हुई। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इन सबकी सामग्री बहुत-कुछ समान है—एक के लक्षण-उदाहरण बोड़े हेर-फेर के साथ अथवा ज्यों-के-त्यों दूसरे में सन्निविष्ट करके नवीन शीर्षक के साथ नवीन ग्रन्थ की रचना का प्रयत्न अधिक रहा है।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से कवि देव के विवेचन में गुण और दोष—दोनों ही स्पष्ट हैं। गुणों में लक्षणों की सुबोधता, स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता के अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि ये अपने मत को प्रबल शब्दों में एवं आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते हैं। "दधि, घृत, मधु, पायस तजि वायसु चाम चबात" कहकर चित्रकाव्य का तथा "प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास" के द्वारा सामान्या-प्रेम का तिरस्कार इन्होंने जिस प्रकार से किया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ ही भेदीकरण तथा मौलिक उद्भावना की प्रवृत्ति इनके विवेचन का दूसरा गुण कही जा सकती है। इनके द्वारा निरस, उदास आदि सात रस-दोषों, वामन-सम्मत गुणों के आधार पर रीति के भेदों; करुण, बीभत्स और शान्त रसों के भेदों आदि की परिकल्पना तथा कतिपय नवीन छन्दों का आविष्कार इस प्रवृत्ति के सहज परिचायक हैं। जहाँ तक इनके विवेचन सम्बन्धी दोषों का प्रश्न है, इनके लक्षणों और उदाहरणों में कहीं-कहीं अस्पष्टता एवं भ्रान्ति तो है ही; साथ में अव्यवस्था, अशास्त्रीयता एवं असामंजस्य भी कम नहीं है। उदाहरण के लिए इनके रस-विवेचन में एक स्थान पर शृंगार, वीर और शान्त को मुख्य तथा हास्य और भय, रौद्र और करुण तथा अद्भुत और बीभत्स को क्रमशः इनके आश्रित एवं दूसरे स्थान पर शृंगार, रौद्र और

बीमत्स को मुख्य तथा क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक को इनके आश्रित कहने में जहाँ असामंजस्य दिखाई देता है; वहाँ अलंकार-विवेचन में कतिपय अलंकारों के लक्षणों में परस्पर-भिन्नता अव्यवस्था की परिचायक है। सत्त्व, वातादि प्रकृतियों के आधार पर नायिकाओं के भेदों के आविष्कार में अशास्त्रीयता कही जा सकती है। इस प्रकार इनका रीतिनिरूपण न तो साधारण पाठक के लिए उपयोगी बन पाया है और न गम्भीर अध्येता को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ ही है।

इसके विपरीत कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएं कहीं अधिक आकर्षक एवं प्रभावी कही जा सकती हैं। इन्होंने यद्यपि तत्त्व-चिन्तन सम्बन्धी रचनाएं भी की हैं, तथापि इनके काव्य का मूल विषय शृंगार ही है—इनमें जीवन का राग-पक्ष निखार के साथ आया है। अपने रीतिनिरूपण में सिद्धान्त-रूप से अपने रसवादी होने का परिचय इन्होंने जिस प्रकार से दिया है, काव्य में उसका निर्वाह अत्यन्त मनोयोग के साथ कर दिखाया है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप रंग-वैभव और प्रसाधन-सामग्री ने इनकी बिम्ब-योजना में विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है—रूप, अनुभाव, मिलन आदि से सम्बद्ध बिम्ब अपने लक्षित और उपलक्षित रूपों में इतने स्पष्ट और आकर्षक हैं कि इस युग के उत्कृष्ट कलाकारों के एतत् सम्बन्धी बिम्ब ही इनके समक्ष ठहर पाते हैं। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम समर्थ नहीं है—प्रत्येक शब्द अपनी विषयानुरूपता का परिचय देता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी भाषा दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक सदोष है—उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ और व्याकरण-रूपों की अव्यवस्था कुछ अधिक देखने को मिलती है; किन्तु ये दोष भी भाषा-सौष्ठव और छन्दों की लय के आग्रह के कारण ही आये हैं। अतएव कहा जा सकता है कि इनका काव्य कुल मिलाकर सरस एवं ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, यह छन्द द्रष्टव्य है :

देव में सीस बसायो सनेह के, भाल मृगम्मद-बिंद के भाख्यौ।
कंचुकि में चुपर्यौ करि बोधा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ।।
ले मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिबंत, सिंगार के बाख्यौ।
सांवर लाल को सांवरो रूप, मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ।।

सोमनाथ : सर्वांग-निरूपक रीतिकवियों में सोमनाथ अथवा शशिनाथ का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनके अपने कथन के अनुसार यह ज्ञातव्य है कि ये माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ के पुत्र थे तथा भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र महाराज प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे। इनका कविता-काल १७२५-१७६० ई. के बीच ठहरता है। इनके द्वारा रचित ये पांच ग्रन्थ बताये जाते हैं—रसपीयूषनिधि, रंगारविलास, कृष्णलीलावली, पंचाध्यायी, सुजानविलास और माधवविनोद। इनमें 'कृष्णलीलावली' और 'सुजानविलास' को छोड़ सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'माधवविनोद' संस्कृत के 'माधवमालती' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है तथा 'पंचाध्यायी' में कृष्णभक्त कवियों के समान रासलीला का वर्णन किया गया है। 'रसपीयूषनिधि' (१७३७) के अन्तर्गत 'प्राकृतपैगलम्' एवं भट्टकेशर के 'वृत्तरत्नाकर' के अतिरिक्त संस्कृत में भानुदत्त मिश्र, मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों का तथा ब्रजभाषा में कुलपति के 'रसरहस्य' और जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' का आश्रय लेकर क्रमशः छन्द, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-शरीर की सामग्री, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण, शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। 'रंगारविलास' में रंगार रस तथा नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। वास्तव में यह 'रसपीयूषनिधि' की सामग्री को यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर पृथक् रूप से बनाया हुआ ग्रन्थ है। अतएव रीति-निरूपण की दृष्टि से इसका पृथक् महत्व नहीं है।

‘रसपीयूषनिधि’ की रचना का उद्देश्य सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्र की सामग्री उपलब्ध करने का रहा है; अतएव विषय-प्रतिपादन में सुबोधता की ओर दृष्टि रहने के कारण इन्होंने केवल उन्हीं विषयों को ग्रहण किया है जो सहज बोधगम्य हों—कठिन प्रसंगों को या तो ये छोड़ते चले गये हैं या फिर अत्यन्त संक्षेप में उनकी चर्चा कर उन्हें समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए काव्य-हेतुओं में केवल अभ्यास का, आर्यो व्यञ्जना के दस वैशिष्ट्यों में से केवल चार का, रससूत्र के व्याख्याताओं में केवल अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का तथा दोषों में मम्मट द्वारा गिनाये गये ९० दोषों में से केवल १९ की चर्चा और उनमें केवल एक के परिहार का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार छन्दों के निरूपण में गुरु, लघु, गण आदि पर सविस्तर विचार करने के उपरान्त मात्रिक छन्दों में केवल दो से बत्तीस मात्राओं तक के तथा वर्णिक छन्दों में एक से लेकर बत्तीस वर्णों तक के प्रसिद्ध छन्दों का ही निरूपण किया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ में काव्यांगों को जिस उत्साह से ग्रहण किया गया है, उतने ही उत्साह से उनका विवेचन नहीं हुआ। इसकी विशेषता बस इसी बात में निहित है कि विषय-विवेचन अत्यन्त सुबोध रूप में प्रस्तुत हुआ है।

अपने विवेचन में इन्होंने जिस ध्वनि-रसवाद की स्थापना की है, उसका निर्वाह अपने काव्य में अत्यन्त मनोयोग के साथ कर दिखाया है। यह ठीक है कि इनकी कविता में अनुमृति का वह आवेग नहीं, जो सरस कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है; फिर भी स्वच्छता सर्वत्र विद्यमान है। यही कारण है कि इनका प्रत्येक शृंगारिक छन्द पाठक के हृदय को रमाने में पूर्ण समर्थ रहा है। शृंगार

के अतिरिक्त इन्होंने राजप्रशस्तिपरक रचनाएं भी की हैं। इनमें उत्साह और आश्रय की भावना की तीव्रता का समावेश एक-साथ होने से वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यथा :

प्रबल प्रताप दावानल सो विराजै वीर
अरिन के पारे रोरि धमकि निसाने की।
ठट्ट मरहट्टा के निघट्ट दारे बाननि सो
पेस करु लेता है प्रचंड तिलगाने की।
'सोमनाथ' कहै सिंह सूरजकुमार जाको
क्रोध त्रिपुरारि को सौं लाज बर बाने की।
चढ़िकै तुरंग जंग रंग करि सैलानि सो
तोरि डारी तीखी तरवार तुरकाने की॥

सोमनाथ की भाषा व्याकरण एवं शब्द-योजना की दृष्टि से सुसंगठित तथा सौष्ठव की दृष्टि से विषयानुरूप कही जा सकती है। विषय को सीधे-सादे ढंग से ये जिस कौशल के साथ प्रस्तुत करते हैं, वैसा इस युग के कवियों में बहुत कम देखने को मिलता है। छन्द-योजना की दृष्टि से इनकी कविता कुछ अनगढ़ अवश्य लगती है, पर कुल मिलाकर यह निर्बलता ऐसी नहीं कि इसके कारण उसे अप्राप्त्य कहा जा सके।

अप्राप्त्य कहा जा सकता है।

भिखारीदास : रीतिकाल के सर्वांग-विवेचक कवियों में आचार्य भिखारीदास का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। उत्तरप्रदेश के जिला प्रतापगढ़-स्थित टुयोंगा नामक ग्राम के कायस्थ कुल में इनका जन्म हुआ था। इनका कविता-काल १७२५-१७६० ई. के बीच ठहरता है। १७३४ से १७५० ई. तक ये प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में रहे। इनके रचे हुए ये सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, छन्दोर्णवपिंगल, शब्दनाम कोश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें अन्तिम तीन के नामों से ही स्पष्ट है कि ये क्रमशः शब्दकोश, विष्णुपुराण का भाषानुवाद तथा शतरंज के खेल से सम्बन्धित हैं। शेष चारों का विषय काव्यांग-विवेचन है। इनमें 'रससारांश' और 'शृंगारनिर्णय' के अन्तर्गत क्रमशः रस की सामग्री और उनके भेदों तथा नायक-नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। इनका आधार भानुमिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' के अतिरिक्त केशव, चिन्तामणि, तोष आदि के एतद्विषयक ग्रन्थ रहे हैं। 'काव्यनिर्णय' में भम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव तथा भानुमिश्र के अतिरिक्त हिन्दी के केशव, चिन्तामणि, तोष आदि अनेक पूर्ववर्ती रीतिकवियों का आश्रय लेकर क्रमशः काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्यपुरुष-स्वरूप, काव्य-भाषा, उत्तम काव्य के रचयिता के गुण, शब्द-शक्ति, रस-सामग्री, अपरांग (रसवदादि), ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार, गुण, शब्दालंकार, चित्रालंकार, तुक और दोष का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। 'छन्दोर्णवपिंगल' में संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा में लिखे गये छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थों के आधार पर छन्दोनिरूपण अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। इन चारों ग्रन्थों की रचना १७३७ और १७५० ई. के बीच हुई।

रीतिनिरूपण के क्षेत्र में आलोचक-दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन इनके विवेचन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं कही जा सकती हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत सम्भवतः ये ही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रकाश में अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य का सम्यक् अध्ययन कर उसमें से तदनुरूप उदाहरणों के चयन द्वारा अपनी आलोचक दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया, आधुनिक हिन्दी-आलोचना का शिलान्यास भी एक प्रकार से किया। काव्य के प्रयोजनों के प्रसंग में प्रत्येक के भीतर आनेवाली हिन्दी की विशिष्ट रचनाओं के रचयिताओं का नामोल्लेख तथा विभिन्न काव्य-दोषों के लिए हिन्दी-कवियों की रचनाओं का उदाहरण-रूप में चयन इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके अतिरिक्त ११ अर्थालंकारों का १२ मूल अलंकारों के आधार पर वर्गीकरण तथा वामन-सम्मत १० गुणों का चार वर्गों में और अवस्थानुसार नायिकाओं के स्वार्थीनपतिकादि आठ भेदों का दो वर्गों में विभाजन प्रस्तुत करके ही इन्होंने अपने मौलिक चिन्तन का परिचय नहीं दिया है; शृंगार के सम और मिश्रित, सामान्य और संयोग तथा नायक-जन्य और नायिका-जन्य के नाम से भेद नये ढंग से प्रस्तुत कर यह भी प्रकट कर दिया है कि ये कितनी गहराई तक जा सकते थे। इधर ब्रजभाषा-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता 'तुक' को सर्वप्रथम काव्यांग के रूप में ग्रहण कर इन्होंने इसका विवेचन जिस प्रकार से किया है, वह यह सहज प्रकट कर देता है कि इनकी पकड़ कितनी पैनी थी। इसी भाँति छन्दोविवेचन में संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थों में प्रस्तुत छन्दों के अतिरिक्त नवीन छन्दों का निरूपण इनकी दृष्टि की व्यापकता का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने जो कुछ कहा है, उसके साथ पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता तथा परम्परा के उल्लंघन के साथ कतिपय स्थलों पर विवेचन की अव्यवस्था एवं अपूर्णता के कारण इनका आचार्य-कर्म अपने-आपमें पूर्ण एवं निर्दोष नहीं रह पाया, तथापि सरस एवं सुबोध लक्षण-उदाहरणों के साथ यथास्थान ब्रजभाषा-गद्य में तिलक देकर इन्होंने अपने विषय को मनोयोग से स्पष्ट किया है।

जहाँ तक भिखारीदास के कवित्व का प्रश्न है, वह भी इन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में प्रतिष्ठित करता है। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने जिस रस-ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है, उसका समुचित निर्वाह इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह रही है कि ध्वनिपरक होने पर भी इनमें किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पायी, सीधे-सरल बिम्बों की अनुरजकता से इन्होंने उन्हें मर्मस्पर्शी बनाया है। दूसरी ओर इनकी भाषा—व्याकरण और सौष्ठव, दोनों ही दृष्टियों से परिमार्जित है। विषयानुरूप संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही इन्होंने प्रयोग नहीं किया, अरबी और फारसी की शब्दावली को भी बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लिया है। वास्तव में शब्द-चयन इनकी कविता में कुछ इस प्रकार से हुआ है कि प्रत्येक शब्द के अर्थ में निहित विशिष्ट व्यंग्य सूक्ष्म होता हुआ भी भाव को रस-कोटि तक पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में इनके काव्य में भाव और भाषा अथवा बिम्ब और उसकी अभिव्यक्ति का सहज एवं स्वाभाविक सामंजस्य हुआ है। उदाहरण के लिए एक छन्द देखिए :

अरविन्द प्रफुल्लित देखि कै भौर अचानक जाइ अरै पै अरै।
बनमाल थली लखि कै मृगसावक दौरि बिहार करै पै करै॥
सरसी टिंग पाइके व्याकुल मीन हुलास सों कूदि परै पै परै।
अवलोकि गुपाल को दास जू ये अंखियां तजि लाज डरै पै डरै॥

रसिकगोविन्द : रीतिकाल के अन्तर्गत जिन भक्तों ने आचार्य-कर्म द्वारा रीति-साहित्य को समृद्ध किया, उनमें रसिकगोविन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म १७४३ ई. के

आसपास राजस्थान के जयपुर नगर में नाटाणीगोत्रीय खण्डेलवाल वैश्य-परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि देवी प्रकोप अथवा राजप्रकोप के कारण सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर ये वृन्दावन चले आये थे और निम्बार्क-सम्प्रदाय की हरिव्यासीय गद्दी की परम्परा के सर्वेश्वरशरण देवाचार्य के शिष्य बनकर रहने लगे थे। यहीं पर इनकी मृत्यु १८३८ ई. में हुई। इनके द्वारा रचे हुए ये दस ग्रन्थ कहे जाते हैं—रामायणसूचनिका, कलिजुग रासो, अष्टदेशभाषा, समयप्रबन्ध, युगलरसमाधुरी, पदावली, रसिकगोविन्दानन्दघन, पिंगल, लल्लिमनचन्द्रिका और रसिकगोविन्द। इनमें प्रथम आठ ही आज उपलब्ध हैं। अनुपलब्ध ग्रन्थों के विषय में विद्वानों का कथन है कि 'लल्लिमनचन्द्रिका' काशी के किन्हीं लल्लिमन नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण को शिक्षा देने के लिए 'गोविन्दानन्दघन' की सूचनिका के रूप में उसके समस्त लक्षणों का संग्रह-मात्र है, जबकि 'रसिकगोविन्द', 'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा हुआ रस-निरूपण का ग्रन्थ है। उपलब्ध ग्रन्थों में केवल 'गोविन्दानन्दघन' और 'पिंगल' ही रीतिग्रन्थ हैं, शेष भक्ति अथवा नीतिविषयक छोटी-बड़ी रचनाएं हैं।

'गोविन्दानन्दघन' (१८०१) चार प्रबन्धों में विभक्त विशालकाय ग्रन्थ है। प्रथम प्रबन्ध के अन्तर्गत रस-लक्षण, रसों के भेदोपभेदों, प्रत्येक रस के विभाव-अनुभावों, सात्त्विक, संचारी और स्थायी भावों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय प्रबन्ध में नायक-नायिकाभेद, नायक-सखा, दूती और उसके कर्मों का वर्णन मनोयोगपूर्वक किया गया है। तृतीय प्रबन्ध में दोष-लक्षण, दोष-भेद तथा दोष-समाधान का सविस्तार वर्णन किया गया है जबकि चतुर्थ में माधुर्यादि तीन गुणों, उपनागरिकादि तीन वृत्तियों तथा ५ शब्दालंकारों और १२३ अर्थालंकारों के क्रम से १२८ अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही स्थान-स्थान पर काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति आदि के विषय में भी उसके रचयिता का दृष्टिकोण स्पष्ट होना गया है। अन्त में यह कहा गया है कि यह ग्रन्थ

प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही स्थान-स्थान पर काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति आदि के विषय में भी इसके रचयिता का दृष्टिकोण व्यक्त होता गया है। अतएव कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ यद्यपि सर्वांग-विवेचन विषयक नहीं है तथापि इसमें किये गये विषय-निरूपण को देखते हुए इसे इस कोटि का कह लिया जाये तो बहुत अनुचित न होगा। इसका शास्त्रीय आधार अत्यन्त व्यापक रहा है। भरत, अभिनव, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि संस्कृताचार्यों के ग्रन्थों का आश्रय ही इसमें ग्रहण नहीं किया गया, पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ब्रजभाषा-रीतिविवेचकों के ग्रन्थों के लक्षणों और उदाहरणों का प्रयोग भी बिना किसी रोक-टोक के कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं को भी इसमें उद्धृत किया गया है। इस प्रकार यह ऐसा संग्रह-ग्रन्थ बन गया है जिसमें विवेचन-व्यवस्था, गद्यमय लक्षणों और उनके उदाहरणों की गद्यमय टीकाओं तथा कतिपय छन्दों के सिवाय सब-कुछ अन्य कवियों का ही है। परन्तु फिर भी जिस स्वच्छता और आत्मविश्वास के साथ पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख अपने मत की पुष्टि में करते हुए विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने समकालीनों के समान कवित्व-प्रदर्शन के मोह को छोड़कर आचार्य-कर्म का निर्वाह अत्यन्त गम्भीरता के साथ किया है। अनेक ग्रन्थों का आश्रय लेने से इसमें यद्यपि मौलिक उद्भावनाओं की सम्भावना नहीं की जा सकती तथापि अद्भुत रस के अत्युक्ति, चित्रोक्ति, भ्रमोक्ति और विरोधाभास नामक चार भेदों की परिकल्पना रस-विवेचन के क्षेत्र में ग्रन्थकार का योगदान कही जायेगी। कुल मिलाकर रीतिनिरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपादेय एवं महत्वपूर्ण है। किन्तु, कवित्व की दृष्टि से इसका अपना कोई महत्व नहीं—ग्रन्थकार के अपने छन्द एक तो संख्या में बहुत कम हैं और उस पर भी उनमें कवित्व अत्यन्त साधारण कोटि का ही है। वैसे भी, उसके अन्य ग्रन्थ भी इस दृष्टि से साधारण ही हैं।

३१८ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

'गोविन्दानन्दघन' का यह अंश इनके आचार्यत्व और कवित्व की सामान्य जानकारी के लिए पर्याप्त होगा :

उपमेय कौं जहां साधारण धर्म करिकैं अरु उपमान की सादृश्य कीजै, सो उपमा ।।
जाकी सादृश्यता दीजै, सो उपमान । जाकौं सादृश्यता दीजै सो उपमेय ।। दोऊ
ओर की सादृश्यता दिखावै सो वाचक पद ।। दोऊनि की लक्ष्मी (लक्ष्य !)
की जो सादृश्यता सो साधारण धर्म । ये चारयौं जहां होइ सोइ पूर्णोपमा ।।
इनमें ते इक बिना, द्वै बिना, तीन बिना होइ सो लुप्तोपमा ।।
पूर्णोपमा उदाहरण :

मंद गजराज की सी चाल चलै मंद मंद
पद अरविंद से सुछंद सुकुमार है ।
केहरि की कटि ऐसी स्त्रीन कटि पीन कुच
हेम कुंभ से है कंठ कंबु सौ सुठार है ।।
धनुष सी बांकी भौंह बनी है 'गुविन्द' दृग
मृग कैसे चख मुख चंद ऐसो चारु है ।
चतुर बिहारी एक प्यारी मैं निहारी जाके
अंगनि की सुषमा की उपमा अपार है ।।

प्रतापसाहि : रीतिकाल के अन्तर्गत कवि, रीतिकार एवं टीकाकार के रूप में प्रतापसाहि का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बंदीजन के पुत्र थे तथा चरखारी-नरेश महाराज विक्रमसिंह के आश्रय में भी रहते थे। ठा. शिवसिंह सेंगर के अनुसार ये पन्ना के महाराज छत्रसाल के आश्रय में रहे थे। इनका रचना-काल १८२३ और १८४३ ई. के बीच माना जाता है। इनके द्वारा रचे हुए ये आठ ग्रन्थ बताये जाते हैं—जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिन्तामणि, काव्यविनोद, जुगलनखशिख और रसचन्द्रिका। इनके अतिरिक्त इन्होंने जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण', मतिराम के 'रसराज', बलभद्र के 'नखशिख' और बिहारी की 'सतसई' की टीकाएं भी लिखीं। टीकाओं से इतर ग्रन्थों में आज 'काव्य-विलास' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी' ही उपलब्ध हैं। इनमें 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५) के अन्तर्गत शब्द-शक्ति, अलंकार-स्वरूप तथा व्यंग्यार्थ-महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भानुदत्त मिश्र के आधार पर नायक-नायिका-भेदों के लक्षण और स्वरचित उदाहरण देकर उनके भीतर नायक-नायिका, शब्द-शक्ति और अलंकार-विशेष का निर्देश किया गया है; जबकि 'काव्यविलास' (१८२९) में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष का निरूपण किया गया है। शेष ग्रन्थों में 'जयसिंहप्रकाश' और 'बिहारी सतसई की टीका' को छोड़ सभी काव्यांग-विवेचन अथवा रीतिग्रन्थों की टीका से सम्बद्ध हैं। यदि ये ग्रन्थ उपलब्ध होते, तो सम्भव है इनके सम्बन्ध में कुछ और बातें ज्ञात होतीं। फिर भी, इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि काव्यशास्त्र में इनकी गहरी रुचि थी।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से प्रतापसाहि के उक्त दो ग्रन्थों की परीक्षा की जाये तो कहना होगा कि इन्होंने यद्यपि विश्वनाथ और पण्डितराज जैसे आचार्यों के मतों को अनेक स्थलों पर उद्धृत कर अपने

विवेचन का आधार पुष्ट एवं व्यापक बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनको भली भाँति समझ न सकने के कारण ये कहीं-कहीं ठीक लक्षण नहीं दे पाये। कुलपति मिश्र यद्यपि सधे हुए आचार्य हैं, तथापि इन्होंने उनका जो आश्रय लिया है वह इनके विवेचन की विशेषताओं को पुष्ट करने के स्थान पर इनमें आत्मविश्वास के अभाव तथा इनके अध्ययन और चिन्तन की गहराई की न्यूनता को अधिक प्रकट करता है। हाँ, 'व्यंग्यार्थकौमुदी' में इन्होंने जो नायक-नायिकाभेद-विवेचन प्रस्तुत किया है वह अपेक्षाकृत स्वच्छ अवश्य है। किन्तु, इसमें भी भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती विभिन्न रीतिकारों के एतद्विषयक विवेचन का अधिक आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थ में गद्य द्वारा विषय को स्पष्ट करने तथा एक ही उदाहरण में नायिका, ध्वनि और अलंकार-विशेष का उद्घाटन करने की शैली अपने-आपमें नवीन एवं गम्भीर है; किन्तु मौलिकता की दृष्टि से यह नगण्य ही है। वस्तुतः रीतिग्रन्थों के निर्माण और उनकी व्याख्या में विशेष अभिरुचि रखते हुए भी ये अपने विवेच्य विषयों को सामान्यतः स्वच्छतापूर्वक प्रस्तुत नहीं कर पाये।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से ये जितने शिथिल दृष्टिगत होते हैं, काव्य-रचना में उतने ही समर्थ कहे जा सकते हैं। बात यह है कि इन्होंने जिस व्यंग्य को काव्य का जीवित कहा है, उसे अत्यन्त ईमानदारी के साथ अपनी कविता में निरूपित कर दिखाया है। कहना न होगा कि व्यंग्य और रस-परिपाक की दृष्टि से इनका काव्य इतना स्वच्छ है कि इस युग के अनेक रस-ध्वनिवादी कवि भी इनके समकक्ष नहीं पहुँच पाते। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं व्यंजना-व्यापार की क्लिष्टता के कारण

समकक्ष नहीं पहुँच पाते। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं व्यंजना-व्यापार की क्लिष्टता के कारण रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है, पर व्यंग्यार्थ के स्पष्ट हो जाने पर उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता है। इनकी भाषा भी व्याकरण, भाव-सामग्री एवं व्यंग्य के अनुरूप चलती है—उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। इनके काव्य को देखकर यदि यह कहा जाये कि रीतिकाव्य में कवित्व का चरमोत्कर्ष इनके बाद समाप्त हो जाता है, तो असंगत न होगा। एक छन्द देखिए :

सीख सिखाई न मानति है बरहू बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नये जल में बिन काम वृथा कत जाम बितावै।।
छोड़ि के साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवाद दिखावै।
कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावै।।

अमीरदास : इस काल में जिन भक्तों ने रीति-निरूपण किया, उनमें निर्गुणधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाले आचार्यों में अमीरदास का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जा सकता है। इनका जन्म १७८३ ई. के आसपास पंजाब के एक वैष्णव-परिवार में हुआ था। ये गुरु रामदास के शिष्य थे और उदासी-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। बाद में इन्होंने अमृतसर के कटरा लोहगढ़ में अपनी गद्दी स्थापित की थी। पटियाला के राजदरबार से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनके द्वारा रचित ये १२ ग्रन्थ बताये जाते हैं—१. सभामंडन (१८२७), २. वृत्तचन्द्रोदय (१८३०), ३. ब्रजविलास सतसई (१८३२), ४. श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु (१८३३), ५. शेरसिंहप्रकाश (१८४०), ६. फागपचीसी, ७. ग्रीष्मविलास, ८. भागवतरत्नाकर, ९. दूषण उल्लास, १०. अमीरप्रकाश, ११. वैद्यकल्पतरु (१८५०) तथा १२. अश्वसंहिताप्रकाश (१८६२)। इनमें प्रथम पांच और अन्तिम दो रचनाएँ आज उपलब्ध हैं—शेष का उल्लेख या तो इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है या फिर खोज-रिपोर्टों में हुआ है। इनकी मृत्यु सन् १८६८ ई. के आसपास बतायी जाती है।

उपलब्ध ग्रन्थों में 'वैद्यकल्पतरु' और 'अश्वसंहिताप्रकाश' क्रमशः मानव और पशु-चिकित्सा सम्बन्धी हैं तथा 'ब्रजविलास सतसई' में शृंगार रस के विभिन्न अंगों के अतिरिक्त भक्ति, नीति आदि विषयों पर ७०१ दोहे संकलित हैं—शेष काव्यशास्त्र-निरूपण विषयक है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'सभामंडन' में पांच उल्लासों में क्रमशः काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण (हेतु), काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्दार्थावृत्ति, ध्वनि, भाव, रस, गुण, नायक-नायिकाभेद, काव्य-दोषों और अलंकारों का तथा 'वृत्तचन्द्रोदय' में लघु, गुरु, गण, दग्धाक्षर के सामान्य परिचय के साथ ४० मात्रिक छन्दों और दण्डकों सहित ६१ वर्णिक छन्दों का निरूपण है; जबकि 'श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु' के अन्तर्गत पांच तरंगों में क्रमशः काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि-भेद, रस और रस-सामग्री, गुण, नायक-नायिकाभेद, दोष और अलंकार को निरूपण का विषय बनाया गया है—'शेरसिंहप्रकाश' में पांच शब्दालंकारों और ६५ अर्थालंकारों के क्रम से ७० अलंकारों का विवेचन शेरसिंह के गुणगान के उद्देश्य से हुआ है। अमीरदास ने प्रायः काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया है।

विषय-निरूपण की दृष्टि से आचार्य अमीरदास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनके विवेचन का आधार रसिकगोविन्द के समान ही अत्यन्त व्यापक रहा है—संस्कृत में भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में केशव से लेकर रसिकगोविन्द तक के प्रायः सभी आचार्यों और रीतिनिरूपकों के ग्रन्थ इनके समक्ष रहे हैं। यही कारण है कि इनके विवेचन में जहां विभिन्न मतों पर विचार-विमर्श है, वहीं दूसरी ओर पर्ववर्तियों की रचनाओं को उदाहरण के तौर पर

विचार-विमर्श है, वहीं दूसरी ओर पूर्ववर्तियों की रचनाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'ननु' शैली में प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंकाएं उठाते हुए उनके समाधान एवं समन्वयात्मक प्रतिपादन इन्होंने जिस प्रकार से किये हैं, वे अपने-आपमें इतने सुलझे हुए हैं कि इस दृष्टि से इस काल का कोई भी रीतिनिरूपक इनके समकक्ष नहीं ठहरता। दूसरे, प्राञ्जल ब्रजभाषा-गद्य में इनके द्वारा प्रस्तुत लक्षण और लक्षणों तथा उनके उदाहरणों पर टीकाएं एवं व्याख्याएं एक ओर जहां इनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण की परिचायक हैं वहीं दूसरी ओर इनके मनोयोग, गम्भीर अध्ययन और चिन्तन एवं अपने कर्म के प्रति निष्ठा को प्रकट करती हैं—इस क्षेत्र में यह कवि की अपेक्षा आचार्य के रूप में अधिक मुखर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण इन्होंने सामान्यतः वही बातें कही हैं जो इनके पूर्ववर्ती संस्कृत अथवा हिन्दी के आचार्य कह गये हैं, तथापि इनके द्वारा संचारियों के साथ रसाभास, भावोदयादि की सम्बन्ध-स्थापना, समस्त भावों की सुखात्मकता का कथन; मूर्च्छा, छल, तुर्यावस्था, अपस्मार आदि के संचारी होने की सम्भावना पर विचार करते हुए अन्य संचारियों में उनका अन्तर्भाव किया जाना, अन्योक्ति और यथासंख्य अलंकारों के उपभेदों की उद्भावना एवं १९ मात्रिक तथा २५ वर्णिक छन्दों का आविष्कार—ये ऐसे विषय हैं जिन्हें विचार किये बिना सहज ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरी ओर कारण बताये बिना वीर रस के भेदों में धर्मवीर की उपेक्षा, गुण में रीति के अन्तर्भाव एवं दोष-विवेचन में प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध को प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध में और विधि-अयुक्त और अनुवाद-अयुक्त को अनुवाद-अयुक्त के रूप में प्रस्तुत किया जाना ऐसी बातें हैं जो खटकती ही नहीं, इनकी सजगता पर प्रश्नचिह्न भी छोड़ जाती हैं। फिर भी, इनका निरूपण कुल मिलाकर इतना गुणवान् है कि इस प्रकार के साधारण स्खलन इनके महत्त्व को कम नहीं कर सकते। इनकी विवेचन-शैली का स्वरूप निम्नोक्त अंश से देखा जा सकता है :

जो शारीरिक धर्म है, ताको होइ गतिरोध।
तन संज्ञा कंपादि बिन, सो स्तंभ इम बोध॥

टीका : कोऊ कारण सो शरीर संज्ञा के होते ही चलना आदि का रोध होइ सो स्तंभ है।

प्रश्न : चाल आदि मिटी तो शरीर संज्ञा कहाँ रही?

उत्तर : शरीर संज्ञा सो नेत्र झपकना आदि गिरा श्रवण आदि रहे हैं। या ते स्तंभ है।
यथा

हरि के देखत ही कहा, थकित भये तब गात।
रही गयी ते हाथ मैं दधि मथ्यो नहिं जात॥

टीका : सखि कहै है—हरि को देख तेरा गात ऐसा थकित भया है जो दधि नहीं मथ्या जाता।
ऐसे जहाँ गति रुकै है तहाँ स्तंभ जानना।

प्रश्न : चेष्टारोध होने ते प्रलय सात्विक होइ?

उत्तर : प्रलय में शरीर संज्ञा नहीं रहती। कहना-सुनना कुछ नहीं रहता। स्तंभ में आंख झपकना आदि व्यवहार सब होता है। ऐतो भेद है।

जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, सिद्धान्त-रूप में उत्कृष्ट काव्य के गुण जानते हुए तथा शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति आदि विषयों की रचनाएं करने पर भी ये अपनी प्रतिभा की छाप नहीं छोड़ पाये। इनकी 'ब्रजविलास सतसई' के अधिकांश दोहे बिहारी के दोहों से प्रभावित हैं। इसी प्रकार 'शेरसिंहप्रकाश' में संगृहीत कवित्तों में भाषागत स्वच्छता तो है, पर उनमें ओज का वह सन्निवेश नहीं जो भूषण आदि पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में मिलता है। वास्तव में कवित्व की दृष्टि से ये अत्यन्त साधारण श्रेणी के कवियों में ही परिगणित किये जा सकते हैं।

संय अत्यन्त साधारण श्रृंगार क कवियोग न हो पाएगा।

गवाल : कवित्व एवं आचार्यत्व का सम्यक् निर्वाह करनेवाले इस युग के अन्तिम चरण के सर्वांग-निरूपक कवियों में गवाल का स्थान अन्यतम कहा जा सकता है। इनका जन्म १७९१ ई. में सेवाराय नामक ब्रह्मभट्ट (बंदीजन) के यहां वृन्दावन में हुआ था तथा बाद में ये मथुरा में आकर बस गये थे। इन्होंने आरम्भिक शिक्षा राधावल्लभीय गोस्वामी दयालाल से ग्रहण की और काव्यशास्त्र का अध्ययन काशी में अपनी ननिहाल में रहकर किया। बरेली-निवासी कवि खुशहालराय इनके काव्य-गुरु थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इनका स्वर्गवास १८६८ ई. में रामपुर में हुआ। अपने जीवन-काल में ये लाहौर, नाभा, पटियाला, टोंक, अमृतसर और रामपुर के राजा-नवाबों के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचे हुए मुख्य रूप से ये सोलह ग्रन्थ कहे जा सकते हैं—रसिकानन्द, कविदर्पण, बलवीरविनोद, साहित्यानन्द, प्रस्तारप्रकाश, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, हम्मीरहठ, विजयविनोद, भक्तभावन, कुब्जाष्टक, गुरुपचासा, निम्बार्कस्वाम्यष्टक, इश्कलहरदरयाव और कविहृदयविनोद। इनमें प्रथम छह लक्षण-ग्रन्थ हैं तथा शेष लक्ष्य अथवा अनुवाद हैं। लक्ष्य ग्रन्थों में 'हम्मीरहठ' और 'विजयविनोद' वीररसात्मक प्रबन्ध-रचनाएं कही जा सकती हैं और शेष ('इश्कलहरदरयाव' को छोड़) मुक्तक रचनाएं हैं। मुक्तक रचनाओं में 'भक्तभावन' सबसे बड़ा ग्रन्थ है जिसमें सन् १८६० से पूर्व गवाल द्वारा रची हुई सभी भक्ति, शृंगार, शान्त रस और नीति सम्बन्धी छोटी-बड़ी रचनाओं को संकलित कर दिया गया है। 'इश्कलहरदरयाव' मीर हसन दहलवी की 'सिहर-उल-बयान' नामक

३२२ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

उर्दू-मसनवी का ब्रजभाषा में अनुवाद है। लक्षण-ग्रन्थों में 'रसिकानन्द', 'बलवीरविनोद' और 'रसतरंग' नायक-नायिकाभेद और रस-विवेचन सम्बन्धी हैं तथा 'कविदर्पण', 'प्रस्तारप्रकाश' और 'साहित्यानन्द' क्रमशः काव्य-दोष, छन्द और सर्वांग-निरूपण विषयक हैं। इनकी रचना १८४८ ई. के बीच हुई।

निरूपण-शैली एवं विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से यद्यपि उक्त सभी ग्रन्थों का महत्त्व है, तथापि विषय की व्यापकता तथा इतर लक्षण-ग्रन्थों की मुख्य सामग्री को अपने भीतर समाहित कर लेने के कारण 'साहित्यानन्द' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा सकता है। स्कन्धों में विभक्त २४४३ छन्दों, ५९७ गद्य-टीकाओं और ३८२ मानचित्रों के इस विशालकाय ग्रन्थ का शास्त्रीय आधार भी अत्यन्त व्यापक है। इसके लिए नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, रसतरंगिणी, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, कुवलयानन्द, कामसूत्र, रतिरहस्य आदि संस्कृत-ग्रन्थों का ही आश्रय ग्रहण नहीं किया गया; ब्रजभाषा के केशव, बिहारी, जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति, दास कवीन्द्र, पद्माकर आदि पूर्ववर्ती कवियों के लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण करने में भी संकोच नहीं किया गया। इसमें क्रमशः छन्द, भाव, रस, शब्द-शक्ति, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्रकाव्य, गुण, रीति, दोष और अलंकार का विवेचन अत्यन्त विस्तार और पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं तथा उदाहरण विभिन्न छन्दों में प्रस्तुत किये गये हैं—यथावश्यकता स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा-गद्य में

टीका देकर अपनी बात को तर्कपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। विषय-निरूपण में ग्वाल की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि मम्मट को सामान्य रूप से अपना आधार बनाते हुए भी वे अन्य आचार्यों के मतों पर विचार किये बिना नहीं रहते—उनके मतों को यथास्थान उद्धृत करते हुए उन पर विमर्श प्रस्तुत करते हैं और अन्त में समन्वयात्मक निष्कर्ष दे देते हैं। इनके अतिरिक्त वे इन आचार्यों—विशेषतः हिन्दी के पूर्ववर्ती रीति-निरूपक आचार्यों के उदाहरणों में गुण-दोषों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख ही नहीं करते, दोषों का परिहार कर उन छन्दों को निर्दोष रूप में प्रस्तुत भी कर देते हैं। अतएव कह सकते हैं कि इनमें पूर्ववर्तियों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों ही विद्यमान हैं। पर क्योंकि इनकी दृष्टि सामान्यतः समन्वयात्मक अधिक रही है, इसलिए इस वर्ग के आचार्यों में सर्वाधिक सामग्री का उपयोग और विमर्शपूर्वक संकलन प्रस्तुत करते हुए भी ये ऐसी कोई बात नहीं कह पाये जिसे भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में इनके मौलिक योगदान के रूप में स्वीकार किया जाये—इनके सभी निष्कर्ष प्रायः वही हैं, जो संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों ने दिये हैं। फिर भी गम्भीर चिन्तन, विवेचन की प्रौढ़ता और अधिक-से-अधिक सामग्री का उपयोग करने के कारण इनका महत्त्व कम नहीं है।

जहां तक कवित्व का सम्बन्ध है, लक्षणों के अनुरूप स्वच्छ छन्दों की रचना करने पर भी ग्वाल का महत्त्व आचार्यत्व की तुलना से कम ही कहा जायेगा। इनकी भाषा में ओज और चमत्कार पर्याप्त है—संस्कृत, अरबी, फारसी, पंजाबी आदि की शब्दावली के स्वच्छ प्रयोग से इनकी अभिव्यक्ति सशक्त बन गयी है; किन्तु फिर भी कल्पना-वैभव और बिम्ब-योजना का वैसा उत्कर्ष इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं हो पाता जैसा कि देव आदि सर्वांग-निरूपक और पद्माकर-जैसे रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी

उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल : : ३२३

नहीं कि इनका समस्त काव्य हीन कोटि का है। रस का परिपाक इनकी रचनाओं में सम्यक् रूप से तो हुआ ही है, अभिव्यंजना-कौशल भी सर्वत्र देखने को मिलता है। षड्भूत-वर्णन तो इन्होंने इतने मनोयोग से किया है कि गुण और परिमाण की दृष्टि से इस युग के बहुत कम कवि उस सीमा तक पहुंच सके हैं—भक्ति, नीति और राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में भी ये इस काल के कवियों से किसी भी प्रकार हटे नहीं रहे। इनकी काव्य-कला के उदाहरण-रूप में नायिका का यह रूप-वर्णन देखिए :

धारी है इजार गुलबदन बहारवारी
प्यारी छबि झूलन इजारबंद छोर की।
सेत कुरती सौं जालदार जुरती है अंग
रती हू न लागै उरवसी गहि जोर की॥
गवाल कवि जाने रूप आगे रूप रंक भयौ
बंक भूकुटी मैं भरी घात चित चोर की।
तीन ताल दै कै तान लेत है तिलोत्तमा सी
देत तन लाल इकलाई तार तार की॥

सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक कवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या दूसरे वर्गों के कवियों की तुलना में सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त ये लोग इस युग के साहित्य की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी सर्वाधिक करते हैं। रीति-निरूपण की दृष्टि से यदि इन्हें देखें तो कहना होगा कि इनमें चाहे सर्वरस-विवेचक हों और चाहे शृंगार अथवा नायक-नायिकाभेद-निरूपक; सभी ने नायक-नायिकाभेद का विवेचन तो अत्यन्त मनोयोग के साथ किया ही है; शृंगार रस का विवेचन भी थोड़े-से नायक-नायिकाभेद के विवेचकों को छोड़ सबका प्रिय विषय रहा है। किन्तु कहना न होगा कि शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन की यह व्यापक प्रवृत्ति यद्यपि सर्वांग-विवेचकों तक में भी इन लोगों के समान ही सर्वाधिक प्रचलित रही है, किन्तु कुल मिलाकर इस दिशा में किसी प्रकार का मौलिक योगदान नहीं हो पाया—जो भी उद्भावनाएं अपने-आपमें मौलिक प्रतीत होती हैं उनमें या तो मौलिकता ही नहीं है, या फिर वे इतनी अशास्त्रीय हैं कि इन्हें किसी प्रकार का महत्त्व देने में संकोच होता है। वर्ण, प्रदेश आदि के आधार पर नायिकाओं के विविध भेदों की परिकल्पना तथा शृंगार में इतर रसों का अन्तर्भाव आदि इसके प्रमाण हैं—इनमें न शास्त्रीयता है और न गणनीय मौलिकता ही। इनके विवेचन का आधार भी अत्यन्त सीमित कहा जा सकता है—संस्कृत में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा हिन्दी में कृपाराम की 'हिततरंगिणी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम-कृत 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' ही इनके आश्रय रहे हैं; बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जिन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र', घनंजय के 'दशरूपक' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' का आश्रय लिया हो। इधर विवेचन-शैली भी इन सबकी लगभग एक-जैसी है—सामान्यतः लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा दोहा छन्द में दिये गये हैं। विवेचन की विशेषता अपने-आपमें यही रही है कि लक्षण स्वच्छ तथा उदाहरण तदनुरूप, सुबोध एवं सरस हैं।

जहां तक कवित्व का प्रश्न है, इसका निर्वाह प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में यथासम्भव ईमानदारी से किया है। विवेच्य विषय के अनुरूप इनकी अधिकांश रचनाएं शृंगारिक ही हैं—इतर विषयों से सम्बन्धित रचनाएं केवल शृंगारेतर रसों के उदाहरणों के रूप में ही देखने को मिलती हैं। काव्यशास्त्रीय नियमों में बद्ध होती हुई भी ये रचनाएं वैविध्यपूर्ण बिम्बों के कारण पर्याप्त कलात्मक रही हैं—क्या लक्षित और क्या उपलक्षित, सभी प्रकार के बिम्बों की रेखाएं इतनी स्पष्ट एवं सघी हुई हैं कि काव्यशास्त्रीय नियमों में आबद्ध परिवेश की एकरूपता भी उन्हें एकरस नहीं बना पायी। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम प्रभावशाली एवं समर्थ नहीं रही। व्याकरण-सम्मत ब्रजभाषा में संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत-जैसी प्राचीन भाषाओं, अरबी और फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का यथावश्यकता प्रयोग कर जिस कसावट और बिम्बानुरूप संगीत की सृष्टि की गयी है, वह इतर कालों में लिखे गये ब्रजभाषा-साहित्य में विरल है—कवित्त, सवैया तथा दोहा के व्यापक प्रयोग ने इस दिशा में अपना योग और दिया है। कुल मिलाकर इन कवियों की रचनाएं कलापूर्ण कही जा सकती हैं। इनमें इन्हें अपने रीति-निरूपण के समान ही सफलता मिली है। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक कवियों में से कतिपय का परिचय देना असंगत न होगा।

सर्वरस-निरूपक रीतिकवि

तोष : संस्कृत के आचार्यों का आश्रय लेते हुए भी अपने ढंग से रस-निरूपण करनेवाले इस युग के आचार्यों में तोष का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये इलाहाबाद के निकट स्थित शृंगवेरपुर (सिंगरौर) नामक स्थान के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम चतुर्भुज था। ये सरयूपारीण शुक्ल ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित 'सुधानिधि', 'नखशिख' और 'विनयशतक' — ये तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें आज केवल 'सुधानिधि' (१६३४) ही उपलब्ध है। कुछ लोग रचना-काल सम्बन्धी इनके दोहे के पाठभेद के आधार पर इसे १७३४ ई. में रचित मानते हैं।

'सुधानिधि' में विषय का विवेचन नवरस-परिगणन तथा विभाव, अनुभाव और स्थायी भाव (प्रेम) के उल्लेख के साथ किया गया है। इसके पश्चात् शृंगार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत क्रमशः नायिका और नायक के भेदोपभेदों, नायक के सखाओं, अनभिज्ञ नायक एवं दर्शन के चारों भेदों का तथा उद्दीपन विभाव के भीतर क्रमशः वर्ण-व्यवसाय के आधार पर विभिन्न प्रकार की दूतियों, चार प्रकार की सखियों तथा विभिन्न प्रकार के उद्दीपक पदार्थों का विवेचन किया गया है। विभाव के विवेचन के उपरान्त संयोग, वियोग, सामान्य और मिश्रित नाम से शृंगार के चार भेदों का वर्णन है — संयोग शृंगार में स्थान और अवसरानुरूप संभोग का, वियोग शृंगार में विरह-पीड़ा का; सामान्य शृंगार में दस प्रसिद्ध और दस अपर हावों; नायिकाओं के औदार्य, माधुर्य, प्रगल्भता और धीरत्व नामक चार अलंकारों; आठ सात्त्विक भावों, विप्रलम्भ के त्रिविध मान, पूर्वराग, प्रवास और करुण नामक चार भेदों और काम की दस दशाओं का तथा मिश्रित शृंगार में संयोग में वियोग, वियोग में संयोग, जन्य और जनक इन चार रूपों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शृंगार का सविस्तार विवेचन कर क्रमशः शेष आठ रसों, तैंतीस संचारी भावों, भाव-सन्धि, भावोदय और भावशबलता के मात्र उदाहरण दे दिये गये हैं। अन्त में क्रमशः कैशिकी आदि चार वृत्तियों में विद्यमान रहनेवाले रसों के उल्लेख, स्थायी और संचारी भावों के अन्तर, रसाभास और भावाभास, रसदोषों आदि के स्वरूप को

स्पष्ट करते हुए विवेचन समाप्त कर दिया गया है। लक्षणों और उदाहरणों के लिए कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा और छप्पय का प्रयोग सुविधानुसार कर लिया गया है। विवेचन में अधिकांश विषय ऐसे हैं जो विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर', भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', कल्याणमल्ल की 'अनंगरंग', केशव की 'रसिकप्रिया', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' जैसे ग्रन्थों में आ चुके हैं; तथापि लक्षणों के स्वरूप और उनकी योजना को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थकार ने इनमें से कौन-सा किसके लक्षण का अनुवाद अथवा रूपान्तर किया है। अतएव कहा जा सकता है कि उन्होंने न केवल अपने कर्म को गम्भीरता के साथ ग्रहण किया, उनमें अपने ढंग से विचार करने और अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित रूप देने का सामर्थ्य भी है। चिन्तन और दृष्टि में इस प्रकार की मौलिकता के परिणामस्वरूप ही वे परकीया की वैयक्तिक परिस्थितियों तथा मिलन-युक्तियों के आधार पर क्रमशः साध्या-असाध्या तथा उद्बुद्धा-उद्बोधिता नामक नवीन भेदों की उद्भावना कर सके हैं। इसी प्रकार वर्ण-व्यवसाय के आधार पर अन्तर्वर्तिनी, विदग्धा, सहचरी और हितकारिणी नामक चार प्रकार की सखियों, उद्दीपक नामक हाव, सामान्य और मिश्रित नामक शृंगार के दो भेदों, धर्मवीर के स्थान पर सत्यवीर नामक भेद तथा कठिनता नामक संचारी सम्बन्धी परिकल्पनाएं ऐसी हैं जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में इस रूप में देखने को नहीं मिलती। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि रस-विवेचन में इनकी दृष्टि दूसरों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वच्छ उदाहरणों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया गया है—लक्षण केवल वहीं देने का प्रयत्न रहा है, जहां पर उदाहरणों से काम चलता हुआ नहीं देखा गया। विवेचन की इस शैली से यह सोचा जा सकता है कि ग्रन्थकार की प्रवृत्ति आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व-प्रदर्शन की ओर अधिक रही है।

जायापत्य का अपेक्षा काव्यत्व-प्रदर्शन का आरंभ अधिक रहा है।

तोष का कवित्व भी कम सराहनीय नहीं है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं में एक से बढ़कर एक आकर्षक एवं नवीन बिम्बों की सृष्टि ही नहीं हुई है, विभिन्न अलंकारों द्वारा नियोजित विविध प्रकार की रेखाओं ने चेतना का स्पर्श कर आह्लादित करने की क्षमता भी उनमें उत्पन्न कर दी है। किसी भी रचना को उठाकर देख जाइए, उसमें दूसरी की अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य सहज ही अनुभव हो जायेगा। इधर अभिव्यक्ति भी अपने-आपमें इतनी सहज, स्वच्छ एवं निश्छल रही है कि काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में रची हुई उनकी कविता की अकृत्रिमता पर आश्चर्य होता है—भाषा और छन्द-योजना का निर्दोष प्रयोग जिस प्रकार का स्वाभाविकता-सम्पृक्त प्रभाव छोड़ता है, वह चिन्तामणि और मतिराम-जैसे सरल कलाकार कवियों की श्रेणी में इन्हें प्रतिष्ठित कर देता है। काव्यशास्त्र को हृदयंगम कर तदनुरूप सरस काव्य की रचना करनेवाले गिने-चुने रीतिकवियों में इनकी गणना बिना किसी संकोच के की जा सकती है। नमूने के रूप में लक्षण-सहित एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

पिय को जिय जासों रमै, सोई ज्येष्ठा होइ।

आनि कनिष्ठा जानिये, कहैं सयाने लोइ॥

प्रेम जनायो मुरारि चहै बहु नारिनि मैं लखि प्यारी नवीनी।

खेल रच्यौ अंखि मूदने को, कहि 'तोष' कियो नंदलाल प्रवीनी॥

कै तेहि चोर मुदे अंखिया छतियां में लियो छतिया गहि पीनी।

बाल गई जब लौं लुकिबे कहं, लाल दई तब लौं रति कीनी॥

रसलीन : व्यवस्थित विवेचन और कवित्व का समान रूप से निर्वाह करते हुए रीतिनिरूपण करनेवाले इस युग के इने-गिने आचार्यों में सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (१६९९-१७५०) का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये उत्तरप्रदेश के जिला हरदोई के प्रसिद्ध साहित्य-केन्द्र बिलग्राम के रहनेवाले थे। इनके मामा मीर अब्दुल जमील और गुरु मीर तुफैल अहमद अच्छे कवि थे, जिनसे इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। इनके पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाकर था। ये अच्छे संगीतज्ञ होने के साथ-साथ सुयोग्य सैनिक, तीरन्दाज और घुड़सवार भी थे तथा नवाब सफदरजंग की सेना में काम करते थे। रामचेतौनी के युद्ध में ये मारे गये थे। कवित्त-सवैयों तथा कतिपय लोकगीतों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित 'रसप्रबोध' (१७४२) और 'अंगदर्पण' (१७३७) नामक दो रीतिग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें क्रमशः रस-विवेचन और नखशिख-वर्णन मिलता है। लेकिन फारसी भाषा में भी इन्होंने रचनाएँ की हैं।

'रसप्रबोध' में यद्यपि सभी रसों का वर्णन हुआ है, तथापि इस वर्ग के अन्य ग्रन्थों के समान ही इसका मूल विषय शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन ही है—अन्य रसों आदि का विवेचन इसकी तुलना में कहीं अधिक संक्षिप्त है। इसमें सबसे पहले रस का सामान्य परिचय देने के उद्देश्य से रस और उसके कारण-भाव को स्पष्ट करते हुए क्रमशः स्थायी भाव, विभाव और अनुभाव को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में ८ सात्त्विकों और ३३ संचारियों को क्रमशः 'तन' और 'मन' संचारी के रूप में वर्गीकृत करते हुए ९ स्थायी भावों तथा ९ रसों के नामों का उल्लेख कर दिया गया है। इसके उपरान्त शृंगार रस का विवेचन आरम्भ किया गया है। इसमें 'रति' स्थायी के लक्षण-उदाहरण देने के बाद शृंगार के विभावों—आलम्बन और उद्दीपन—की चर्चा कर आलम्बन में

क्रमशः नायिका और नायक के लक्षणों के साथ उनके भेदों के अनेक अवान्तर भेदोपभेदों की लक्षण-उदाहरण-सहित चर्चा की गयी है, जबकि उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत सखी, दूती और नायक-सखा के भेदों और उनके कर्मों के अतिरिक्त षड्वृत्तियों तथा अन्य पदार्थों को प्रस्तुत किया गया है। विभाव-पक्ष के उपरान्त अनुभावों, हावों आदि का वर्णन है। अन्त में बारहमासा-सहित वियोग शृंगार का वर्णन कर शेष आठ रसों की विभावादि सामग्री एवं उनमें से कतिपय के भेदों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक से सम्बद्ध उदाहरण देकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही दोहों में हैं।

रस और नायक-नायिकाभेद सम्बन्धी इस विवेचन को देखकर यह सहज ही आभास हो जाता है कि इसका आधार अन्य विवेचकों की तुलना में पर्याप्त विस्तृत है—भरत, रुद्रभट्ट, भानुदत्त और वात्स्यायन के अतिरिक्त हिन्दी के कृपाराम, केशव, तोष और कुमारमणि-जैसे प्रौढ़ आचार्यों का आश्रय ग्रहण किया गया है। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता क्रम-व्यवस्था, स्पष्टता और विस्तार में निहित है। विवेचन का क्रम कुछ इस प्रकार से रखा गया है कि न तो पुनरुक्ति हुई है और न कोई विषय छूट ही पाया है। स्वच्छ एवं सरस उदाहरणों ने इस दिशा में अपना विशेष योग दिया है। इधर पूर्ववर्ती समस्त ग्रन्थों की नायिकाभेद-वर्णन विषयक सामग्री का यथासम्भव समन्वय कर विवेचन को पर्याप्त विस्तार ही प्रदान नहीं किया गया, इसके अतिरिक्त नायिकाओं में त्रिविध पतिदुःखिता और सेवकवधू नामक परकीया, चतुर्विध सामान्या तथा अवस्थानुसार नायिकाओं में गमिष्यत् और आगमिष्यत्पतिका की एवं नायकों में नायिकाओं के आधार पर उपपत्ति और वैशिक के भेदों की परिकल्पना द्वारा विषय का विकास भी किया गया है।

रीति-निरूपण के समान इनका कवित्व भी इस युग के कवियों में वैशिष्ट्यपूर्ण है। रसवादी होने के कारण अपनी रचनाओं में रस का सम्यक् परिपाक तो इन्होंने किया ही है, अभिव्यञ्जना-शिल्प भी इनके काव्य की अपनी विशेषता बन गया है। सीधे-सादे बिम्बों में नवीन उपमानों का प्रयोग ये जिस सूत्री के साथ करते हैं, वह इस काल के कवियों की रचनाओं में विरल है। कदाचित् इसीलिए इनके बिम्ब अधिक स्पष्ट और मार्मिक बन गये हैं। दूसरी ओर भाषा में विषयानुसार सरसता भी है। इनकी कविता का सौन्दर्य वास्तव में वक्रता की अपेक्षा स्वाभाविकता में अधिक निहित रहा है। उदाहरणस्वरूप ये दोहे देखिए :

(अ) यौं तिय नैननि लाज मैं, लसत काम के भाइ।

मिले सलिल में नेह ज्यों, ऊपर ही दरसाइ।।

(आ) अगिन रूप बनि रे बिरह, कत जारत है मोहि।

तिय तन पानिप पाइकै, बोरि मारिहौं तोहि।।

पद्माकर : कवित्व का पूर्णतः निर्वाह करते हुए नवरसों का सफल निरूपण करनेवाले गिने-चुने आचार्यों में पद्माकर का नाम लिया जा सकता है। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनका जन्म १७५३ ई. में मध्यप्रदेश के सागर नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता मोहनलाल भट्ट भी अच्छे कवि थे और सामान्यतः अनुष्ठान और मन्त्र-साधना का कार्य करते थे। ये सागर-नरेश रघुनाथराव अप्पा, महाराज जैतपुर, सुमरा-निवासी नोने अर्जुनसिंह, दतिया-नरेश महाराज पारीक्षित, शुजाउद्दौला के जागीरदार गोसाईं अनूपगिरि (उपनाम हिम्मतबहादुर), सितारा-नरेश रघुनाथराव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह और उनके पुत्र जगतसिंह, उदयपुर-नरेश महाराज भीमसिंह तथा

गवालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया के आश्रय में रहे। १८३३ ई. में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। इनके द्वारा रचित ये सात मौलिक ग्रन्थ मिलते हैं—हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्दिनोद, प्रबोध-पचासा, गंगालहरी, प्रतापसिंह विरुदावली और कलिपञ्चीसी। इनके अतिरिक्त इनके अनेक स्फुट छन्द भी मिलते हैं। कहते हैं कि वाल्मीकि-रामायण, हितोपदेश आदि संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद भी इन्होंने किये थे। मौलिक ग्रन्थों में 'पद्माभरण' और 'जगद्दिनोद' ही रीतिग्रन्थ हैं—शेष राजप्रशस्ति अथवा भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी हैं। इन रीतिग्रन्थों में क्रमशः अलंकार और नवरस-विवेचन किया गया है। 'पद्माभरण' १८१० ई. में रचा गया बताया जाता है। 'जगद्दिनोद' की रचना १८०३ और १८२१ ई. के बीच महाराज जगतसिंह के आश्रय में उनकी आज्ञा से हुई।

'जगद्दिनोद' में छह प्रकरण और ७३१ छन्द हैं। आरम्भ में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिकाभेद और चार प्रकार के दर्शन का विवेचन करने के अनन्तर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत नायक के सखाओं, नायिका की सखी, तीन प्रकार की दूतियों तथा षड्ऋतुओं का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर शृंगार रस के अनुभावों के विवेचन के व्याज से आठ सात्त्विक भावों और बारह हावों का वर्णन करते हुए शृंगारादि नव रसों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा आदि में। लक्षणों को देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार मूलतः 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी', 'साहित्यदर्पण', 'रसिकप्रिया', 'सुधानिधि' आदि ग्रन्थों का ऋणी रहा है। अतएव मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं। ग्रन्थ की विशेषता

यही है कि लक्षण सुबोध और स्पष्ट तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य का आश्रय भी लिया गया है। किन्तु फिर भी, लक्षणों में वह सूक्ष्मता और शास्त्रीयता नहीं आ पायी जो संस्कृत-आचार्यों के लक्षणों में मिलती है।

कवित्व की दृष्टि से यदि पद्माकर की रचनाओं की परीक्षा की जाये, तो कहना होगा कि इनके द्वारा गृहीत तीनों विषयों — शृंगार, राजप्रशस्ति और भक्ति में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इस दिशा में इनकी सबसे बड़ी विशेषता बिम्ब-योजना है जिसमें रेखाएं और रंग ही अत्यन्त स्पष्ट होकर नहीं आये; उनमें यथावश्यकता भावात्मकता, गति और स्थैर्य का सन्निवेश भी कुछ ऐसे कौशल के साथ हुआ है कि वे सहृदय के मन पर आत्मविभोर कर देनेवाला आह्लादक प्रभाव छोड़ जाते हैं। भाषा भी बिम्बों और उनकी रेखाओं के अनुरूप इतनी सधी हुई एवं सौष्ठव-सम्पन्न है कि प्रत्येक शब्द की योजना देखते ही बनती है। इधर कवित्तों और सत्रियों का प्रयोग भी विशेष प्रकार के गम्भीर संगीत की सृष्टि कर रचनागत बिम्ब के अनुकूल वातावरण ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्येक रेखा के धर्म को भी व्यंजित करता चलता है। कहना न होगा कि इन्हीं विशेषताओं के कारण ये परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गये। एक छन्द द्रष्टव्य है :

सिन्धु के सपूत सुत सिन्धु तनया के बन्धु
मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै 'पद्माकर' गिरीस के बसे हौ सीस
तारन के ईस कुलकारन कन्हाई के।।
हाल ही के बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पै
जाल से जगावत जुआल सी जुन्हाई के।
ए रे मतिमन्द चन्द आवत न तोहैं लाज
ह्वै के दुजराज काज करत कसाई के।।

बेनी 'प्रवीन' : इस काल के नवरस-विवेचक आचार्यों में संक्षिप्त लक्षणों और सरस उदाहरणों की रचना के लिए बेनी 'प्रवीन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये लखनऊ के रहनेवाले वाजपेयी ब्राह्मण थे तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के वंशीलाल के शिष्य थे। इनके रचे हुए शृंगारभूषण, नवरसतरंग और नानारावप्रकाश—ये तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। किन्तु, इनमें आज 'नवरसतरंग' (१८१७) ही उपलब्ध है। कहा जाता है कि 'प्रवीन' उपाधि इन्हें इनके समकालीन भंडौआकार बेनी ने दी थी। 'नवरसतरंग' में कुल मिलाकर ५४३ छन्द हैं जिनमें नवरस-परिगणन, रस-लक्षण तथा विभिन्न रसों के स्थायी भावों के उल्लेख के उपरान्त क्रमशः शृंगार के आलम्बन विभाव में नायक-नायिकाभेद और चतुर्विध दर्शन; उद्दीपन में सखी, त्रिविध दूतियों के अतिरिक्त वर्ण-व्यवसाय के आधार पर कतिपय अन्य दूतियों और उद्दीपक सामग्री, आठ सात्त्विक भावों, तैंतीस संचारियों और भावोदयादि, भावाभास तथा नौ स्थायी भावों का; शृंगार के संयोग-पक्ष में दस हावों तथा विप्रलम्भ शृंगार के करुण को छोड़ शेष तीन भेदों और मरण को छोड़ सभी कामदशाओं का; एवं शेष आठ रसों का निरूपण किया गया है। लक्षण विषयवस्तु के अनुरूप बरवै, दोहा अथवा सोरठा में हैं; उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा दोहों में। विवेचन में लक्षणों का आधार सामान्यतः भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' ही रही है—वर्ण-व्यवसाय के आधार पर दूती के भेदों के वर्णन के लिए तोष के

'सुधानिधि' और केशव की 'रसिकप्रिया' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। ग्रन्थकार ने अपने 'शृंगारभूषण' के अनेक छन्दों को भी इसमें उद्धृत किया है। करुण, रौद्र और वीर के उदाहरण शृंगारमिश्रित हैं। समग्रतः लक्षण संक्षिप्त, स्वच्छ और सुबोध तथा उदाहरण लक्षणों के अनुरूप और सरस हैं। कवित्व की दृष्टि से इन्हें इस युग के तोष, मतिराम, देव आदि सरस कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनके बिम्बों की रेखाएं स्वच्छ एवं सुनियोजित ही नहीं, पर्याप्त आकर्षक भी हैं। प्रत्येक बिम्ब मतिराम के बिम्बों-जैसा सरलताजन्य गम्भीर प्रभाव छोड़ जाता है—उसमें न बिहारी-जैसी नक्काशी मिलेगी और न देव और पद्माकर-जैसी क्रमशः गति और मुखरता ही। भाषा भी विषय के अनुरूप अकृत्रिम, सरस एवं प्रसादगुण-सम्पन्न है।

अन्य रीतिकवि : रीतिकाल के सर्वरस-विवेचक आचार्य-कवियों में सुखदेव मिश्र, याकूब खां, उजियारे, रामसिंह और चन्द्रशेखर वाजपेयी भी उल्लेखनीय हैं। **सुखदेव मिश्र** (कविता-काल १६३३-१७०३ ई.) द्वारा रचे हुए ये ग्रन्थ बताये जाते हैं—वृत्तविचार, छन्दविचार, फाजिलअलीप्रकाश, अध्यात्मप्रकाश, रसार्णव, रसरत्नाकर और शृंगारलता। इनमें 'वृत्तविचार' छन्दोनिर्ूपण विषयक है, 'अध्यात्मप्रकाश' में जीव, जगत्, माया और ब्रह्मविषयक शंकर के विचारों को कविता में समझाया गया है, 'रसार्णव' और 'रसरत्नाकर' में नवरस-वर्णन है तथा अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। 'रसार्णव' और 'रसरत्नाकर' में शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाभेद, त्रिविधदर्शन, सखी, दूती, नायक-सखा, उद्दीपक सामग्री, हावादिक एवं शृंगार के दोनों भेदों का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है और इतर रसों का वर्णन चलते ढंग से कर दिया गया है। अन्त में रस-

पिस्तार का साथ किया गया है और इतर रसा का वर्णन करता हुआ सफर किया गया है। अन्तर्गत सामग्री के अन्तर्गत आनेवाले व्यभिचारी भाव आदि का विवेचन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थों के विवेचन का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' हैं। 'रसरत्नाकर' में जहां सुबोधता, स्पष्टता और संक्षेप की ओर ग्रन्थकार का आग्रह रहा है वहां 'रसार्णव' में संक्षेप के स्थान पर कवित्व-प्रदर्शन पर उसकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रही है। वैसे, कवित्व की दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थों का महत्त्व है। इनमें कल्पना की उड़ान भले ही न हो, किन्तु सीधे-सादे बिम्ब कुछ इस प्रकार से अंकित किये गये हैं कि उनकी स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

रस और अलंकार के समानान्तर विवेचन द्वारा रीति-निरूपण की संक्षेप-शैली में अपने ढंग का अनूठा प्रयोग करने के कारण याकूब खां इस युग के आचार्यों में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। किन्तु, दुर्भाग्य की बात यह है कि 'रसभूषण' के सिवाय न तो इनका कोई ग्रन्थ मिलता है और न इनके जीवन-वृत्त के विषय में किसी प्रकार की सामग्री ही उपलब्ध है। राय शिवप्रसाद द्वारा रचित 'रसभूषण' (१८१२) पर इनके प्रभाव को देखकर इतना ही अनुमान लग पाता है कि ये १८०० ई. से पूर्व हुए होंगे। याकूब खां के 'रसभूषण' में रस-विवेचन के अन्तर्गत नायक-नायिकाभेद, नायक-सखा, त्रिविधमान, चतुर्विध दर्शन, त्रिविध दूती, सखी और उनके कर्मों, १८ हावों, ८ सात्त्विक भावों, ८ स्थायी भावों, शृंगार के भेदोपभेद-सहित मरण के सिवाय सभी कामदशाओं तथा शान्त रस समेत नवरस को प्रस्तुत किया गया है। इनमें नायक-नायिकाभेद सम्बन्धी प्रकरण का विवेचन लगभग वैसा ही है, जैसा कि भानुदत्त की 'रसमंजरी' में देखने को मिलता है तथा शेष का निरूपण 'साहित्यदर्पण' के अधिक निकट है। संचारी भावों का विवेचन बिना कोई कारण बताये ही छोड़ दिया गया है। अलंकारों के विवेचन में कुवलयानन्दकार द्वारा उपमा से हेतु तक गृहीत १०० मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त रस-भाव वर्ग के ८ रसवदादि अलंकार, प्रमाणाधृत १० अलंकारों में से केवल

'प्रत्यक्ष' नामक अलंकार तथा शब्दालंकारों में से 'छेक' और 'वृत्ति' नामक दो भेदों सहित अनुप्रास और यमक के क्रम से कुल मिलाकर १११ अलंकारों को भेदोपभेद-सहित समझाया गया है। रस और अलंकारविषयक यह विवेचन क्रम और भेदोपभेद सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से यद्यपि उक्त संस्कृत-ग्रन्थों के अनुरूप है, तथापि एतद्विषयक कोई भी लक्षण ऐसा नहीं जिसे इनके लक्षणों का अनुवाद अथवा रूपान्तर कहा जा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणों की सामग्री के लिए इस काल के 'रसिकप्रिया', 'भाषाभूषण', 'रसराज' आदि ब्रजभाषा-रीतिग्रन्थ ही आधार रहे हैं। अतः मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से यह ग्रन्थ नगण्य है। विषय-विवेचन के लिए लक्षण सोरठे में दिये गये हैं और उदाहरणों के लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थकार ने सामान्यतः एक ही छन्द के प्रथम दो चरणों में अलंकार-विशेष का और बाद के दो में रस-सामग्री के अंश-विशेष का लक्षण देने का प्रयत्न किया है— दोनों के उदाहरण भी उसने प्रायः एक ही छन्द में घटा दिये हैं। कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य में वृत्ति देकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। लक्षण, उदाहरण और वृत्ति, तीनों के समन्वित योग के कारण अलंकार और रस का सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेवालों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है, परन्तु कवित्व अपने-आपमें साधारण कोटि का ही है।

उजियारे : ये वृन्दावन-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने १७८० ई. के आसपास 'जुगलरसप्रकाश' और 'रसचन्द्रिका' की रचना की थी। 'रसचन्द्रिका' के १६ और 'जुगलरसप्रकाश' के १२ प्रकाशों में रस-सामग्री और विभिन्न रसों का प्रायः एक-जैसा विवेचन किया गया है—अन्तर केवल इतना ही है कि 'रसचन्द्रिका' के अन्त में 'रसरोध' शीर्षक से रस-विरोधी बातों की चर्चा 'जुगलरसप्रकाश' की अपेक्षा अधिक है। विवेचन का आधार मूलतः भरत का 'नाट्यशास्त्र' रहा है। इनमें प्रश्नोत्तर की पद्धति द्वारा विषय सम्बन्धी समस्याओं को उठाते हुए उनका

नाट्यशास्त्र रहा है। इनमें प्रस्तावित रसों का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है—यह बात दूसरी है कि भारतीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक बात नहीं कही गयी। एक विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने शृंगार का विवेचन सविस्तर करते हुए भी इतर रसों के विवेचन को अन्य रीति-निरूपकों के समान चलता नहीं कर दिया—एक-एक प्रकाश में एक-एक रस का विवेचन करते हुए प्रत्येक रस के महत्त्व को अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित किया गया है। लक्षण सामान्यतः स्वच्छ और स्पष्ट है तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस कहे जा सकते हैं। कहना न होगा कि उजियारे इस काल के प्रतिष्ठित कवियों की श्रेणी में भले ही न आते हों, पर कवि और कवि-शिक्षक के रूप में वे पर्याप्त सफल हैं।

विषय को स्वच्छ, सरस, विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करनेवाले रस-विवेचक आचार्यों में महाराज रामसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये नरवरगढ़-नरेश छत्रसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें जुगलविलास, रसशिरोमणि, अलंकारदर्पण और रसनिवास प्रसिद्ध हैं। इनमें 'जुगलविलास' (१७७९) देव के 'अष्टयाम' के समान नायक-नायिका की विलासपूर्ण दिनचर्या के वर्णन का ग्रन्थ है, 'अलंकारदर्पण' (१७७८) में 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलंकार-विवेचन किया गया है, 'रसशिरोमणि' (१७७३) 'रसमंजरी' के आधार पर रचित नायक-नायिकाभेद और शृंगाररस-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ है; जबकि 'रसनिवास' (१७८२) में रसतरंगिणी, रसमंजरी, साहित्यदर्पण, रसिकप्रिया आदि के आधार पर नायक-नायिकाभेद के अतिरिक्त रस-सामग्री और विभिन्न रसों के वर्णन के साथ रस-भाव-अलंकार-सम्बन्ध, रसविरोध, रसामास, रसशबलता आदि का मनोयोगपूर्वक विवेचन किया गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में 'रसनिवास' का

महत्त्व विशेष है। इसमें ग्रन्थकार ने भरती के शब्दों को बचाते हुए नपी-तुली भाषा में लक्षण और तदनुरूप सरस उदाहरण देकर ही अपने विवेचन को पूर्ण नहीं समझा, इससे आगे रसविषयक विभिन्न पक्षों पर गम्भीर चिन्तन के बाद अपने ढंग से अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। रस के आधार पर अभिमुख (रसप्रधान), विमुख (गुणीभूत रस) और परमुख (रसहीन) नामक काव्य की तीन कोटियों की परिकल्पना भी इनके मौलिक चिन्तन का परिणाम कही जा सकती है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ अपने रचयिता को उच्च कोटि के कवि-शिक्षकों की कोटि में सहज ही प्रतिष्ठित कर देता है। कवित्व की दृष्टि से भी ये इस काल के मतिराम-जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों में बिना किसी संकोच के परिगणित किये जा सकते हैं। कल्पना की ऊंची उड़ान ने इनके बिम्बों को कुछ ऐसा वैशिष्ट्य प्रदान किया है कि उससे इनकी रसवादी दृष्टि सहज ही प्रमाणित हो जाती है।

लक्षण सम्बन्धी दोषों से सावधान और लक्ष्य के लिए अनिवार्य गुणों के निर्वाह के निमित्त सचेष्ट रहकर शास्त्रनिष्ठ स्वच्छ विवेचन करनेवाले इस युग के आचार्यों में **चन्द्रशेखर वाजपेयी** (१७९८-१८८५) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जा सकता है। इनके ग्रन्थों में हम्मीर हठ, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, हरिमानसविलास, रसिकविनोद आदि प्रसिद्ध हैं। 'रसिकविनोद' (१८४६) में नवरस का विवेचन किया गया है। इसकी रचना पटियाला-नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह के आश्रय में हुई थी। इसमें शृंगार रस के आलम्बन-रूप नायक-नायिकाभेद और चतुर्विध दर्शन, उद्दीपन विभाव, सात्त्विक भावों, संचारी भावों, स्थायी भावों, रस-लक्षण, शृंगार के भेदों में संभोग के अन्तर्गत दस हावों, वियोग के अन्तर्गत पूर्व अनुराग, प्रवास, रस-लक्षण और शृंगार के भावों में उदात्त भावों के अन्तर्गत दस भावों का निरूपण किया गया है। इन

ईर्ष्या, विरह और शाप के नाम से उसके पांच भेदों एवं शेष आठ रसों का निरूपण किया गया है। इन विषयों में नायक-नायिकाभेद-विवेचन का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' और शेष का उनकी 'रसतरंगिणी' रही है। लक्षण दोहों में हैं और सभी भानुदत्त के लक्षणों के अनुवाद अथवा छायानुवाद रहे हैं। उदाहरण कवित्त अथवा सवैयाओं में हैं तथा लक्षणों के अनुरूप एवं सरस हैं। विवेचन की स्वच्छता एवं सुबोधता ही इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं कवित्व की दृष्टि से भी चन्द्रशेखर वाजपेयी को सफल कहा जा सकता है। इनकी शृंगार और राजप्रशस्तिपरक—दोनों ही प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य का निर्वाह दृष्टिगत होता है। शृंगारिक रचनाओं में कल्पना के स्वच्छ विनियोग ने जहां इनके बिम्बों को सहज, आकर्षक एवं मधुर रूप प्रदान किया है, वहां राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में आश्रयदाता के गुणों का बखान परम्परामुक्त होते हुए भी वाणी के ओज के कारण अत्यन्त प्रभावी बन पड़ा है। भाषा व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छ एवं सौष्ठवपूर्ण है।

शृंगाररस-निरूपक रीतिकवि

मतिराम : शृंगार रस को रसशिरोमणि मानकर केवल उसी का सांगोपांग विवेचन करनेवाले आचार्यों में मतिराम का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। इनका जन्म १६०४ ई. के लगभग उत्तरप्रदेश के जिला फतेहपुर के बनपुर नामक स्थान में हुआ था तथा इनके पिता का नाम विश्वनाथ त्रिपाठी था। ये सम्राट् जहांगीर, बूंदी-नरेश राव भावसिंह हाड़ा, कुमायूं-नरेश ज्ञानचन्द, बुन्देलखण्ड-स्थित श्रीनगर-नरेश स्वरूपसिंह बुन्देला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचित ये आठ ग्रन्थ कहे जाते हैं—फूलमंजरी, लक्षण-शृंगार, साहित्यसार, रसराज, ललितललाम, सतसई,

अलंकारपंचाशिका और वृत्तकौमुदी। इनमें 'लक्षणशृंगार' और 'साहित्यसार' आज उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में 'फूलमंजरी' की रचना जहांगीर की आज्ञा से १६१९ ई. में, 'ललितललाम' की रचना भावसिंह के आश्रय में सन् १६६१-६४ के बीच, 'सतसई' की रचना किन्हीं भोगनाथ के आश्रय में १६८१ ई. के आसपास, 'अलंकारपंचाशिका' की रचना ज्ञानचन्द के आश्रय में १६९० ई. में तथा 'वृत्तकौमुदी' की रचना स्वरूपसिंह बुन्देला के आश्रय में १७०१ ई. में हुई। 'रसराज' का रचनाकाल १६३३-४३ ई. के बीच स्वीकार किया जा सकता है। यह किसी आश्रयदाता के आश्रय में नहीं लिखा गया। कतिपय विद्वान् इन्हें एक किंवदन्ती के आधार पर चिन्तामणि और भूषण के सहोदर-रूप में स्वीकार करते हुए 'अलंकारपंचाशिका' और 'वृत्तकौमुदी' को किन्हीं अन्य मतिराम की रचना कहते हैं, किन्तु अधुनातन शोधों ने यह भ्रामक सिद्ध कर दिया है।

अस्तु, 'रसराज' में शृंगार रस और उसके आलम्बन नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। इसमें दोहों, कवित्तों और सवैयों में उक्त विषय को मनोयोगपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में नायिका और नायक को शृंगार के आलम्बन-रूप में स्वीकार करते हुए क्रमशः दोनों का निरूपण भानुदत्त की 'रसमंजरी' और रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' के आधार पर किया है। इसके पश्चात् आलम्बन के ही प्रसंग में दर्शन के स्वप्न, चित्रादि भेदों, उद्दीपनों, अनुभावों, सात्त्विक भावों तथा शृंगार के संयोग-वियोग नामक भेदों का वर्णन भी 'रसमंजरी' के आधार पर करते हुए संयोग के प्रसंग में दस हावों का वर्णन भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लेकर किया गया है। अन्त में विप्रलम्भ शृंगार के भेदों तथा काम की दस अवस्थाओं का वर्णन

आश्रय लेकर किया गया है। अन्त में विप्रलम्भ शृंगार के नया तथा कान का रस अपत्याजा का वर्णन पुनः रसमंजरीकार की सहायता से किया गया है। लक्षण दोहों में हैं, आधार ग्रन्थों के अनुवाद अथवा छायानुवाद हैं तथा विषय-निरूपण की दृष्टि से अपने-आपमें पर्याप्त स्वच्छ कहे जा सकते हैं। उदाहरण सरस कवित्तों, सवैयाओं अथवा दोहों में हैं तथा सभी प्रकार से लक्षणों के अनुरूप हैं। ग्रन्थकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संस्कृत-ग्रन्थों का आश्रय लेते हुए भी उनका अन्धानुकरण नहीं करता। कदाचित् इसीलिए उसने रसमंजरीकार द्वारा वर्णित 'गुप्ता' नायिका के तीन भेदों में वर्तिष्यमाण और वृत्तवर्तिष्यमाण नामक भेदों तथा 'करुण विप्रलम्भ' और 'मरण' नामक कामदशा को एक ओर जहाँ छोड़ दिया है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी-आचार्यों द्वारा परिगणित 'आगतपतिका' नामक नवीन नायिका का सफल निरूपण किया है। विवेचन के सम्बन्ध में केवल एक ही बात खटकती है कि शृंगार के सभी अंगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी रस-परिपाक के लिए अनिवार्य कहे गये संचारी भावों का कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया।

'रसराज' के उदाहरणों का वर्ण्य विषय यद्यपि शृंगार ही है, तथापि अपने अन्य ग्रन्थों में मतिराम ने राजप्रशस्ति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। कवित्व की दृष्टि से इन दोनों विषयों से सम्बद्ध रचनाएं अत्यन्त सरस हैं। कल्पना के सहज व्यापार ने बिम्बों को आकर्षक एवं भव्य ही नहीं बनाया, अपनी अकृत्रिम सूक्ष्मता द्वारा उनके रचयिता को उत्कृष्ट कलाकारों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। संयत वाणी में मर्यादित शृंगार तथा ओजमयी वाणी में राजप्रशस्तियों की अभिव्यक्ति स्वच्छ भाषा में जिस प्रकार से हुई है, वह अनेक कवियों के लिए आदर्श रही; यह परवर्ती कवियों में से अनेक ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। छन्दों में विषयानुरूप संगीत की सृष्टि ने तद्गत बिम्बों और उनकी अभिव्यक्ति को जिस रूप में ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत किया है, वह इस काल के गिने-चने कवियों की रचनाओं में ही देखने को मिलती है। यथा :

कुन्दन को रंग फीको लगे झलके सब अंगन चारु गुराई।
 आखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।।
 को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसकानि मिठाई।
 ज्यों ज्यों निहारिये नेरे हवै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।।

कृष्णभट्टदेव ऋषि : शृंगार को मूर्दन्य रस मानकर उसका सविस्तार विवेचन करनेवाले गिने-चुने आचार्यों में कृष्णभट्टदेव ऋषि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है, जिन्होंने इतर रसों का अन्तर्भाव भी इसमें कर दिखाया है। दुर्भाग्य से इनके जीवन-वृत्त के विषय में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है—केवल इतना ही पता चलता है कि १७१२ ई. में इन्होंने विन्दवती के राजा बुद्धसिंह जी देव की आज्ञा से 'शृंगाररसमाधुरी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इनका 'अलंकारकलानिधि' नामक एक अन्य ग्रन्थ और है जो रस-अलंकार-विवेचन विषयक है, किन्तु वह खण्डित रूप में ही मिलता है। 'शृंगाररसमाधुरी' की विषयवस्तु सोलह अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'स्वाद' संज्ञा दी गयी है। इनमें क्रमशः द्विविध शृंगार, नायक-भेद, नायिका-भेद, चतुर्विध दर्शन, दूती, मिलन-भेद आदि का वर्णन है। 'अलंकारकलानिधि' में भी रस-सामग्री, सखी-भेद, दूती-कर्म, विभिन्न रस और उनका शृंगारपरक वर्णन, रसों के अनुकूल वृत्तियों तथा रस-दोषों का वर्णन किया गया है। इस विवेचन में 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त 'हिततरंगिणी', 'रसिकप्रिया' और 'सुधानिधि' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। विवेचन की व्यवस्था, लक्षणों की स्वच्छता और स्पष्टता तथा उदाहरणों की तदनु रूपता एवं सरसता इन कृतियों की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। कवित्व की दृष्टि से भी ये रचनाएं अत्यन्त मार्मिक कही जा सकती हैं।

नायक-नायिकाभेद-निरूपक रीतिकवि

रीतिकाल में रस-विवेचन के सन्दर्भ में नायक-नायिकाभेद का विवेचन मतिराम, तोष, रसलीन प्रभृति अनेक कवियों ने किया है, किन्तु इस दिशा में सर्वथा भिन्न शैली के उद्भावक होने के कारण इस युग के आचार्यों में कालिदास त्रिवेदी का विशिष्ट स्थान है। इनके विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये अन्तर्वेद के रहनेवाले थे तथा औरंगजेब के साथ बीजापुर की लड़ाई में गये थे। प्रसिद्ध रीतिकवि उदयनाथ कवीन्द्र और दूलह इनके क्रमशः पुत्र और पौत्र थे। इन्होंने हजारा, राधामाधवबुधमिलन विनोद, वारवधूविनोद आदि ग्रन्थों की रचना की। इनमें 'वारवधूविनोद' नायिकाभेद-विवेचन विषयक है। इसकी रचना १६९२ ई. के लगभग जम्बूनगर के शासक किन्हीं जालिम जोगाजीत के आश्रय में हुई। यह पाँच प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम प्रभाव के अन्तर्गत मंगलाचरण, आश्रयदाता की प्रशस्ति एवं उसके वंश के संक्षिप्त परिचय के बाद विषय का विवेचन नाटकीय ढंग से एक कथा-प्रसंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण से राधा का मिलन कराने के निमित्त ललिता दूती का कार्य करती है। राधा के आगमन में विलम्ब जानकर और कृष्ण का विरहाधिक्य देखकर वह उनके मन को बहलाने के उद्देश्य से नायिकाभेद की चर्चा आरम्भ कर देती है और एक-एक करके प्रथम तीन प्रभावों में क्रमशः भेदोपभेदों-सहित स्वकीया और परकीया का तथा नखशिख और सुरतादि-सहित सामान्या का वर्णन करती है। इसके पश्चात् चतुर्थ में अन्यसम्भोगदुःखितादि अष्टविध नायिकाओं का परिचय देती है। अन्तिम प्रभाव में उत्तमादि त्रिविध नायिकाओं का उल्लेख कर वह नायिका की सखी के कर्मों का वर्णन

जैसे ही समाप्त करती है, वैसे ही राधा पहुंच जाती है। यहीं पर दोनों के सुरत और सुरतान्त का वर्णन कर कवि ग्रन्थ को समाप्त कर देता है। इस प्रकार विषय-वैशद्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण कोटि का है। मौलिकता की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व नहीं, कारण लक्षण अपने-आपमें सामान्य एवं परम्परागत लक्षणों के आधार पर रचे गये हैं—उनमें किसी प्रकार की सूक्ष्मता का ध्यान नहीं रखा गया। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि विवेचन कथा के प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसके लिए ऐसे छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, जो इस काल के अन्य कवियों ने रीति-निरूपण अथवा शृंगार-वर्णनों के लिए प्रायः ग्रहण नहीं किये। ये छन्द हैं—छप्पय, हरिगीतिका, त्रिभंगी, त्रोटक, भुजंगप्रयात, चौपाई, सरसी और कुंडलिया। इन छन्दों का प्रयोग इतने कलात्मक ढंग से किया गया है कि कोई भी प्रकृतितः इस विषय के प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामान्या नायिका के प्रसंग में उसके नखशिख एवं सुरतादि का वर्णन इसमें जिस मनोयोग एवं आकर्षक ढंग से किया गया है, वैसा इस युग के समग्र शृंगारी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता—बिम्ब, भाषा और छन्द-योजना, तीनों ही अपने समन्वित रूप में यह सिद्ध कर देते हैं कि यदि कवि विषय में रुचि ले तो रसाभास की उत्पत्ति करनेवाले इस प्रकार के विषय भी विशुद्ध रस का-सा आनन्द प्रदान कर सकते हैं।

अलंकार-निरूपक रीतिकवि

रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचकों के समान अलंकार-विवेचकों की संख्या भी पर्याप्त है और इनमें प्रत्येक इस युग की रीति-निरूपण की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है—सभी ने कवित्व-प्रदर्शन के स्थान पर अलंकार का सामान्य ज्ञान कराने के उद्देश्य से ही एतद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है तथा सामान्य रूप से सुबोधता और सुकण्ठता का ध्यान रखा है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही प्रायः इन कवियों के विवेचन के विषय रहे हैं। किन्तु, इनमें कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अर्थालंकारों का ही विवेचन किया है। अलंकार-विवेचन के लिए सामान्यतः जयदेव के 'चन्द्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का ही आधार लिया गया है; ध्वनिपूर्वक के अलंकारवादी आचार्यों का आश्रय बहुत ही कम लोगों ने लिया है। इनके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का आश्रय भी कुछ लोगों ने लिया है; पर इनका प्रभाव बहुत अधिक दृष्टिगत नहीं होता। अलंकारों के विवेचन का क्रम प्रायः वही रहा है जो आधार-ग्रन्थों—'चन्द्रालोक' अथवा 'कुवलयानन्द'—में देखने को मिलता है। परन्तु इन ग्रन्थों—विशेषतः 'कुवलयानन्द' में दिये गये सभी अलंकारों को इन्होंने ग्रहण नहीं किया; अप्पय दीक्षित द्वारा गृहीत रस-भाव पर आधृत रसवदादि नामक सात अलंकारों तथा प्रमाणाधृत प्रत्यक्ष, अनुमान आदि दस अलंकारों के अतिरिक्त संसृष्टि और पंचविध संकर को बहुत ही कम लोगों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है; उपमा से हेतु तक दिये गये सौ अलंकार ही इनके ग्रन्थों में प्रायः देखने को मिलते हैं। गम्भीर चिन्तन के अभाव तथा उक्त संस्कृत-ग्रन्थों का आश्रय रहने के कारण इनमें मौलिक उद्भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहा। मौलिकता यदि इनमें कहीं है, तो विवेचन-शैली में अनेक प्रकार के नवीन प्रयोगों की है—जितनी विवेचन-शैलियाँ इस वर्ग के कवियों ने प्रस्तुत की हैं, उतनी अन्य वर्गों में देखने को नहीं मिलतीं। इनके अतिरिक्त उदाहरणों के वर्ण्य विषय भी पर्याप्त वैविध्यपूर्ण रहे हैं—शृंगार और राजप्रशस्ति के अतिरिक्त भक्ति और नीति सम्बन्धी रचनाएँ भी उदाहरण-रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। कहना न होगा कि

इन सभी विषयों की रचनाएं पर्याप्त कवित्वपूर्ण हैं। अलंकारों के निरूपण पर दृष्टि रहते हुए भी तद्गत बिम्बों के वैशद्य की हानि नहीं हो पायी; अभिव्यक्ति भी अपने-आपमें समर्थ रही है। हां, जहां कवित्व की ओर ध्यान नहीं दिया गया—संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण अथवा मात्र लक्षण देना ही ग्रन्थकार का अभीष्ट रहा है, वहां इन विशेषताओं का सर्वत्र अभाव रहा है। कुल मिलाकर इस वर्ग के कवि अपने कर्म में सामान्य रूप से सफल रहे हैं। उदाहरण के लिए कतिपय अलंकार-विवेचकों का परिचय अभीष्ट है।

जसवन्तसिंह : रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्यों में महाराज जसवन्तसिंह (१६२७-१७२९) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। ये मारवाड़-नरेश महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे तथा पिता की मृत्यु के उपरान्त बारह वर्ष की अल्प आयु में ही इन्हें राज्य-भार संभालना पड़ा था। शाहजहां और औरंगजेब के शासन-काल में मुगल दरबार और उसकी राजनीतिक गतिविधियों में ये विशेष रूप से सक्रिय रहे—शिवाजी के हाथों शायस्ता खां की जो दुर्गति हुई थी, उसमें इन्हीं का हाथ था। ये तेजस्वी राजनीतिज्ञ एवं कुशल शासक ही नहीं थे, साहित्य और दर्शन के प्रति भी इनका विशेष अनुराग था। अनेक कवि और पण्डित इनके आश्रय में रहते थे। इन्होंने स्वयं भी 'भाषाभूषण' नामक अलंकार विषयक ग्रन्थ के अतिरिक्त अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्तबोध और सिद्धान्तसार नामक पांच अध्यात्मविषयक ग्रन्थों की रचना की—संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद भी इन्होंने किया।

एतद्विषयक दो ग्रन्थ हैं। इनमें 'पंचाशिका' तो अलंकार-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त सामान्य है, कारण आश्रयदाता की प्रशस्ति सम्बन्धी स्फुट रचनाओं पर लक्षण घटाकर इसे ग्रन्थ का रूप दे दिया गया है—न तो इसके विवेचन में कोई व्यवस्था है और न औचित्य ही। वास्तव में इस दृष्टि से 'ललितललाम' का ही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। इसमें भेदोपभेदों-सहित १०० अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन अलंकारों का क्रम और विवेचन 'कुवलयानन्द' के आधार पर रहा है—सामान्यतः कुवलयानन्दकार के लक्षणों का दोहों में अनुवाद अथवा छायानुवाद कर सुविधानुसार शृंगारिक सरस छन्दों अथवा आश्रयदाता की प्रशस्तियों को उनके उदाहरण-रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि अप्पय दीक्षित से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी ग्रन्थकार ने उनका अन्धानुकरण नहीं किया—यथावश्यकता 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाश' का आश्रय लेते हुए कहीं-कहीं थोड़ी फेर-बदल कर लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। यही कारण है कि मालोपमा और रशनोपमा नामक अलंकार कुवलयानन्दकार द्वारा गृहीत न होने पर भी इन्होंने साहित्यदर्पणकार से ग्रहण कर लिये हैं। इसी प्रकार अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृत हेतु और काव्यलिङ्ग नामक दो पृथक् अलंकारों को मम्मट से संकेत ग्रहण कर इन्होंने एक कर दिया है—अन्तर केवल इतना है कि मम्मट ने जहां काव्यलिङ्ग में 'हेतु' का अन्तर्भाव किया है, वहां इन्होंने 'हेतु' के भीतर इसको अन्तर्भूत कर दिया है। इतना ही नहीं, रसवादी होने के कारण इन्होंने कुवलयानन्दकार द्वारा मान्य रसवदादि तथा प्रमाणाधृत अनुमानादि अलंकारों का स्पर्श भी इसलिए नहीं किया कि या तो ये इनके सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते हैं या फिर

रसोत्कर्ष में सहायक नहीं कहे जा सकते। इधर अन्य रीतिकवियों द्वारा आग्रहपूर्वक गृहीत शब्दालंकारों को भी इन्होंने सम्भवतः इसलिए अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया क्योंकि रस के साथ इनका सीधा सम्बन्ध नहीं है—भाषा के मात्र चमत्कारक धर्म समझकर मतिराम ने इन्हें छोड़ दिया है। कहने का अभिप्राय यही है कि इनका अलंकार-विवेचन मौलिक न होने पर भी सुचिन्तित एवं तर्कसंगत है। इसके अतिरिक्त यह सुबोध एवं स्पष्ट ही नहीं, सरस भी है—लक्षण अपने-आपमें गठे हुए तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा की परस्पर प्रकृति-भिन्नता के कारण पूर्ण अनुवाद न हो सकने से लक्षणों में यदि कहीं पर कोई न्यूनता आ गयी है, तो उसकी पूर्ति उदाहरणों ने कर दी है।

भूषण : रीति-निरूपण में शृंगारिक उदाहरण देने की सामान्य प्रवृत्ति का तिरस्कार कर केवल वीररसपरक राजप्रशस्तियों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करनेवाले इस युग के आचार्यों में भूषण का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये कानपुर के समीपवर्ती तिकवांपुर नामक स्थान के निवासी रत्नाकार त्रिपाठी के पुत्र थे तथा छत्रपति शिवाजी और उनके पौत्र शाहूजी, छत्रसाल बुन्देला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे थे। कहते हैं कि चित्रकूट के राजा रुद्रसाह सोलंकी ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि से सम्मानित किया और इस उपनाम से ये इतने प्रसिद्ध हुए कि आज इनका वास्तविक नाम ही शोध का विषय बन गया है। शिवाजी के आश्रय में इन्होंने 'शिवराजभूषण' (१६७३), 'शिवाबावनी' तथा अनेक स्फुट छन्दों की रचना की। छत्रसाल की प्रशस्ति में इन्होंने 'छत्रसालदशक' की रचना की। एक जनश्रुति के आधार पर कतिपय विद्वान् अब तक इन्हें विन्तामणि, मतिराम और नीलकण्ठ नामक प्रसिद्ध कवियों के सहोदर-रूप में स्वीकार करते आ रहे हैं, किन्तु अधुनातन शोधों ने इसे भ्रामक सिद्ध कर दिया है। इसके साथ ही विद्वानों का एक अन्य वर्ग 'अलंकारप्रकाश' और

३३८ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

जाते हैं और सहृदय पाठक आनन्दविभोर होकर वीररसजनित स्फूर्ति का अनुभव करता है। उदाहरणस्वरूप यह कवित्त द्रष्टव्य है :

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा दुमदण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

पद्माकर : अलंकार-निरूपण में संक्षेप और सरसता का निर्वाह करनेवाले इस काल के रीतिकवियों में पद्माकर का नाम बिना किसी संकोच के लिया जा सकता है। इन्होंने 'पद्माभरण' (१८१० ई. के लगभग रचित) में क्रमशः अलंकार-रीति, उपमा से हेतु तक १०० मुख्य अर्थालंकारों, रसवदादि, भावोदयादि तथा प्रमाणादि १५ अलंकारों तथा संसृष्टि और संकर के लक्षण-उदाहरण दिये हैं। अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य और सम्भव—इन चार अलंकारों को छोड़ सबके लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। इन चारों के लक्षण चौपाई में तथा उदाहरण दोहा अथवा चौपाई में दिये गये हैं। संकर और संसृष्टि के लक्षण ग्रन्थकार द्वारा रचित हैं तथा इनके उदाहरणों में ६ दोहे

बैरीसाल के 'भाषाभरण' के और ३ दोहे बिहारी की 'सतसई' के हैं—केवल एक दोहा इनका अपना है। ग्रन्थकार के अपने कथन के अनुसार विवेचन का आधार यद्यपि 'भाषाभरण' ही रहा है, तथापि अलंकारों के क्रम तथा कतिपय लक्षणों को देखकर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि इनके सामने 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषाभूषण' भी अवश्य रहे हैं। अलंकार-रीति के प्रसंग में यद्यपि अलंकार के तीन वर्गों—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार—की चर्चा की गयी है, तथापि ग्रन्थ के भीतर कहीं भी शब्दालंकारों को विवेचन का विषय नहीं बनाया गया। विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने-आपमें अत्यन्त सुबोध कहा जा सकता है—लक्षणों की स्पष्टता तथा उदाहरणों की सरसता एवं तदनुरूपता ने ही ग्रन्थकार को अपने कर्म में सफलता प्रदान की है। यदि कोई बात खटकती है तो यही कि रसवादी होकर इन्होंने रसवदादि को अलंकार-रूप में क्यों ग्रहण किया तथा अनुप्रास और यमक-प्रिय होते हुए भी शब्दालंकारों—विशेषतः इन दोनों अलंकारों—का निरूपण क्यों नहीं किया !

अलंकार-विवेचक अन्य रीतिकवि : आलोच्य काल के अलंकार-विवेचकों में कालक्रम से गोप, रसिक सुमति, रघुनाथ, दूलह, रसरूप, सेवादास और गिरिधरदास भी उल्लेखनीय हैं। गोप (१७१६ ई. के आसपास विद्यमान) दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा इनके पूर्वज गोकुल में आकर बसे थे। इनके पिता यदुनाथ भगवद्भक्त कवि थे तथा उन्होंने 'रसविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। ओड़छा-नरेश महाराज पृथ्वीसिंह इनके आश्रयदाता थे। 'रामालंकार', 'रामचन्द्रभूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण' नामक तीन अलंकार-निरूपण-विषयक ग्रन्थ इनके द्वारा रचे हुए बताये जाते हैं। इनमें से आज केवल 'रामचन्द्राभरण' ही उपलब्ध है।^१ इसमें अलंकार-लक्षण प्रायः दोहों में हैं तथा

उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय आदि प्रसिद्ध छन्दों में। उदाहरणों का वर्ण्य विषय केवल भगवान् राम का चरित्र है। अर्थालंकारों में कुवलयानन्दकार द्वारा निरूपित उपमा से हेतु तक के १०० अलंकारों में से ९३ का विवेचन किया गया है—व्याजनिन्दा, विषम, सम, अल्प, अतद्गुण, विवृतोक्ति और युक्ति इन सात अलंकारों को छोड़ दिया गया है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास के छेक, वृत्ति और लाट नामक भेदों तथा यमक का विवेचन किया गया है। यद्यपि अलंकारों का क्रम वही है जो 'कुवलयानन्द' में मिलता है, तथापि लक्षणों के लिए ग्रन्थकार इसका पूर्णतः ऋणी नहीं रहा—'चन्द्रालोक', 'साहित्यदर्पण', 'भाषाभूषण', 'ललितललाम' आदि से भी सहायता ली गयी है। विवेचन अपने-आपमें स्पष्ट एवं व्यवस्थित है—लक्षण और उदाहरण सामान्यतः एक-दूसरे के अनुरूप हैं। इसमें जाति, क्रिया और द्रव्य के आधार पर स्वभावोक्ति के चार भेदों की परिकल्पना यह संकेत करती है कि ग्रन्थकार ने विषय पर मौलिक चिन्तन करने का प्रयत्न किया है। कवित्व की दृष्टि से उदाहरणों में भक्त कवियों-जैसी तन्मयता तो नहीं है, पर रीतिकवियों का शिल्प उनमें सहज ही देखा जा सकता है।

'भाषाभूषण' की संक्षेप-शैली के अलंकार-निरूपकों में रसिक सुमति का विशेष स्थान है। इनके एकमात्र ग्रन्थ 'अलंकार-चन्द्रोदय' (१७२९) में लक्षण-उदाहरण के क्रम से १८० दोहों में अर्थालंकारों का तथा ७ दोहों में शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट—इन तीनों भेदों की ही चर्चा है। विवेचन का आधार इनके अपने शब्दों में यद्यपि

छेक और लाट—इन ताना भदा का हा चचा ह। विवेचन का आधार इनके अपने शब्दा न पचाप 'कुवलयानन्द' ही है, तथापि शब्दालंकारों के अतिरिक्त इतर अलंकारों के विवेचन के लिए 'चन्द्रालोक' और 'भाषाभूषण' की भी सहायता ली गयी है। इनके विवेचन की मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अलंकार अथवा उसके भेद के लिए लक्षण-उदाहरण स्वतन्त्र दोहे में दिये हैं—'भाषाभूषण' के समान उपभेदों के एकसाथ लक्षण और फिर क्रमशः एकसाथ उदाहरण नहीं दिये गये। 'कुवलयानन्द' का आश्रय लेते हुए भी अलंकारों का चयन तथा उनका वर्णन-क्रम ग्रन्थकार का अपना रहा है। इसीलिए अप्पय दीक्षित द्वारा वर्णित न होते हुए भी रशनोपमा और मालोपमा को इन्होंने ग्रहण कर लिया है। ग्रन्थ की भाषा सरल और सरस है तथा विवेचन स्वच्छ एवं सुबोध है। निश्चय ही रसिक सुमति अपने रीति-निरूपण में जसवन्तसिंह की टक्कर के आचार्य हैं।

अलंकार-निरूपण में प्रौढ़ता और कवित्व का निर्वाह करनेवाले रीतिकवियों में रघुनाथ बन्दीजन का भी विशेष स्थान है। ये काशी-नरेश महाराज वरिवण्डसिंह के दरबार में रहते थे। इनके द्वारा रचित तीन रीतिग्रन्थ—रसिकमोहन (१७३९), काव्यकलाधर (१७४५) और जगतमोहन (१७५०) उपलब्ध होते हैं। 'रसिकमोहन' के अन्तर्गत अलंकार-निरूपण हुआ है तथा 'काव्यकलाधर' में रस और नायक-नायिका-भेद का विवेचन है। 'जगतमोहन' में देव के 'अष्टयाम' के समान नायक कृष्ण की दिनचर्या का वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'इश्क-महोत्सव' नामक इनका एक और ग्रन्थ है। इसमें रीतिमुक्त कवियों के समान प्रेम और उसके माहात्म्य पर सरल रचनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। 'रसिकमोहन' में अलंकारों के विवेचन का क्रम लगभग वही है जो 'कुवलयानन्द' में देखने को मिलता है; लक्षण भी सामान्य रूप से 'कुवलयानन्द' के छाया अनुवाद कहे जा सकते हैं। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक उदाहरण सरस ही नहीं है, उसके सम्पूर्ण कलेवर के भीतर तत्सम्बन्धी अलंकार व्याप्त रहा है—इतर रीतिकारों के समान विशिष्ट चरणों में उसकी व्याप्ति दिखाकर उदाहरण को पूर्ण नहीं समझ लिया गया। कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य में टीका देकर भी

अपनी बात को समझाने का सफल प्रयत्न किया गया है। क्या शृंगारिक और क्या राजप्रशस्ति अथवा भक्ति-विषयक रचनाएं—सर्वत्र इन्होंने अपने सहृदय कवि होने का परिचय दिया है।

रीति-निरूपण की संक्षेप-शैली में नवीन प्रयोग करने के कारण दूलह का नाम इस काल के अलंकार-निरूपकों में भाषाभूषणकार के समान ही आदरपूर्वक लिया जाता है। ये प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिपाठी के पौत्र तथा रस-चन्द्रोदयकार उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनकी रचनाओं में आज 'कविकुलकण्ठाभरण' नामक अलंकार-ग्रन्थ तथा कतिपय स्फुट छन्द ही उपलब्ध होते हैं। इनका कविता-काल १७४३-१७६८ ई. के बीच माना जाता है। 'कविकुलकण्ठाभरण' में कुल मिलाकर ८५ छन्द हैं, जिनमें ११५ अलंकारों का निरूपण हुआ है। ग्रन्थकार ने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का ऋण स्वीकार करते हुए शब्दालंकारों को छोड़ जिन अलंकारों को ग्रहण किया है उनके नाम और विवेचन का क्रम वही है जो 'कुवलयानन्द' में देखने को मिलता है—उपमा से हेतु तक १०० मुख्य अलंकारों के साथ क्रमशः ४ रसवदादि, ३ भावोदयादि तथा ८ प्रत्यक्ष, अनुमानादि। विवेचन में संक्षेप का अर्थ दोहे-जैसे छोटे छन्द का प्रयोग न लेकर संक्षेप-कथन को लिया गया है; यही कारण है कि कवित्त और सवैया-जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग करते हुए संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण देकर जहां तक भी हो सका है भरती के शब्दों को बचाने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण सामान्य रूप से तत्सम्बन्धी लक्षणों के साथ ही आये हैं, तथापि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जहां अनेक अलंकारों अथवा एक के अनेक भेदों से सम्बद्ध उदाहरण 'भाषाभूषण' के समान पूर्वोक्त लक्षण में अथवा विशेषता के क्रम में दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अत्यधिक संक्षिप्तता के कारण यह ग्रन्थ अपने-आपमें नीरस हो गया है; तथापि स्पष्टता एवं सुबोधता की दृष्टि से यह संक्षेप-शैली के ग्रन्थों में अन्यतम कहा जा सकता है।

जा सकता है।

रसरूप का 'तुलसीभूषण' (१७५४) अलंकार-निरूपण सम्बन्धी छोटा-सा ग्रन्थ है, जिसमें १११ अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। लक्षण दोहों में ग्रन्थकार के रचे हुए हैं और उदाहरण सामान्यतः तुलसीकृत 'रामचरितमानस', 'गीतावली' और 'बरवै रामायण' से छांटकर दिये गये हैं। लक्षणों का मूल आधार 'काव्यप्रकाश', 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'कल्पलता' और 'चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ रहे हैं। इनमें शब्दालंकारों के लिए मुख्य रूप से मम्मट का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है और अर्थालंकारों के लिए शेष ग्रन्थों को आधार बनाया गया है। विवेच्य अलंकारों में शब्दालंकार पहले आये हैं और अर्थालंकार अकारादि क्रम से बाद में। शब्दालंकारों में क्रमशः अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का वर्णन किया गया है—अनुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट नामक प्रसिद्ध भेद ही बताये गये हैं तथा वृत्त्यनुप्रास के प्रसंग में तीनों वृत्तियों का परिचय भी दे दिया गया है। विवेचन में लक्षणों के व्यापक आधार, उनकी स्वच्छता और सुबोधता को देखकर उनके रचयिता के मनोयोग की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

रीतिकाल के अन्तर्गत काव्यांग-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति केवल राजाश्रित कवियों में ही नहीं थी, वैष्णव भक्त भी उससे नहीं बच सके थे, यह सेवादास की रचनाओं को देखकर सहज ही कहा जा सकता है। ये अलबेले लाल जू के शिष्य थे तथा इन्होंने 'गीतामाहात्म्य', 'अलबेले लाल जू को नखशिख', 'अलबेले लाल जू को छप्पय' आदि भक्तिपरक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'रसदर्पण' और 'रघुनाथ-अलंकार' नामक रीतिग्रन्थ भी लिखे थे। 'रसदर्पण' के अन्तर्गत 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद का विशेष रूप से तथा अन्य रसों का

सामान्य रूप से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के सभी उदाहरण सीता, राम, राधा तथा कृष्ण सम्बन्धी हैं—नायिकाभेद के प्रसंग में सीता को स्वकीया तथा राधा को परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'रघुनाथ-अलंकार' (१७८३) में ७० अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। किन्तु लक्षणों को देखकर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन पर इनका किसी प्रकार का प्रभाव है—अलंकारों का क्रम तक उसका अपना है। लुप्तोपमा के सातों भेदों का मनोयोगपूर्वक वर्णन करना; प्रतीप, तुल्ययोगिता, निदर्शना, विभावना और असंगति-जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकारों के भेदों की चर्चा न कर उनका चलता विवेचन करना तथा दृष्टान्त, स्वभावोक्ति, विरोधाभास और समासोक्ति-जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकारों को छोड़कर अधिक, अल्प, संभावन जैसे सामान्य अलंकारों को विवेचन में स्थान देना यह प्रकट करता है कि विवेच्य अलंकारों के चयन के मूल में कोई तर्क नहीं है। इनमें सामान्य रूप से भगवान् राम को तथा कहीं-कहीं हनुमान को इष्ट के रूप में ग्रहण किया गया है। कवित्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण ही कहा जाना चाहिए—इसमें न तो भक्तिकालीन कवियों-जैसी तन्मयता दृष्टिगत होती है और न रीतिकालीन कवियों-जैसे सधे काव्य-शिल्प का निर्वाह हो पाया है।

गिरिधरदास के 'भारतीभूषण' (१८३३) में १०४ अलंकारों का निरूपण है—रसवदादि पंचदश अलंकारों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया। उपमा से लेकर हेतु तक अर्थालंकारों का विवेचन-क्रम तथा उनके लक्षण 'कुवलयानन्द' के आधार पर हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि मालोपमा तथा रशनोपमा के लक्षण 'साहित्यदर्पण' के आधार पर और जोड़ दिये गये हैं तथा स्मरण, भ्रम और सन्देह के लक्षण 'लच्छनलच्छित नाम' कहकर दिये नहीं गये। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास और यमक का विवेचन किया गया है। इनका आधार भी 'साहित्यदर्पण' रहा है। कुल मिलाकर स्वच्छ एवं स्पष्ट लक्षणों तथा तदनुरूप सरस उदाहरणों के कारण यह ग्रन्थ पर्याप्त उपयोगी बन पड़ा है।

छन्दोनिरूपक रीतिकवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या सर्वांग-विवेचकों के समान सीमित ही है, तथापि विषय-विवेचन सम्बन्धी गुणों की दृष्टि से इनमें कोई भी ऐसा नहीं जिसका प्रयास किसी प्रकार से हीन अथवा असफल कहा जा सके—प्रत्येक ने छन्द का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक पाठक की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए सुबोधता एवं स्पष्टता का ध्यान ही नहीं रखा; छन्दःशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन कर विषय की प्राविधिकता का विशेष ध्यान रखा है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' से प्रभावित होते हुए भी विवेचन की व्यवस्था और शैली सबकी अपनी रही है—दोहादि छन्दों में छन्द-विशेष का पूरा लक्षण और तदनुरूप उदाहरण की पद्धति ही सबमें प्रचलित रही है; आवश्यकता पड़ने पर कतिपय ने ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति का उपयोग भी कर लिया है। इन कवियों द्वारा प्रसिद्ध छन्दों के निरूपण के अतिरिक्त नवीन छन्दों का आविष्कार किया जाना हिन्दी-छन्दःशास्त्र के लिए विशेष योगदान रहा है। यद्यपि प्रस्तार-रीति की वैज्ञानिक पद्धति के कारण किसी भी छन्द की अपूर्वता का दावा नहीं किया जा सकता, तथापि यति और लय की व्यवस्था तो इनकी अपनी है ही। एक-दो कवियों को छोड़कर प्रायः सबने उदाहरण राजप्रशस्तिपरक ही दिये हैं। क्योंकि इनमें छन्द का निर्वाह प्रधान रहा है, इसलिए कवित्व के निर्वाह का विशेष ध्यान

नहीं रखा गया। कदाचित् यही कारण है कि इनमें न तो इतर काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में दिये गये इस विषय के छन्दों-जैसे आकर्षक एवं वैविध्यपूर्ण बिम्बों की योजना ही हो पायी है और न अभिव्यक्ति भी तदनुरूप आकर्षक हो सकी है। यहां इस वर्ग के कतिपय प्रसिद्ध कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

मुरलीधर 'भूषण' : रीतिकाल के अन्तर्गत विस्तृत एवं व्यवस्थित छन्दोविवेचन करनेवाले आचार्यों में मुरलीधर 'भूषण' सम्भवतः सबसे पहले व्यक्ति हैं। इनके एतद्विषयक ग्रन्थ का नाम 'छन्दोहृदयप्रकाश' (१६६६) है। इसकी रचना इन्होंने मार्तण्डगढ़ के पौलस्त्यवंशी महाराज हृदयनारायण देव के आश्रय में की थी। इनका 'अलंकारप्रकाश' (१६४८) नामक एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जिसमें दोष, अलंकार, रस और शब्द-शक्ति का विवेचन किया गया है। इनके पिता का नाम रामेश्वर त्रिपाठी था तथा चंदेरी के राजा देवीसिंह ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। ये प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ही हैं अथवा उनसे भिन्न, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता; जो प्रमाण पक्ष अथवा विपक्ष में दिये जाते हैं, उनकी पूरी छानबीन अभी अपेक्षित है।

'छन्दोहृदयप्रकाश' में तेरह प्रकरण हैं, जिन्हें 'उल्लास' संज्ञा दी गयी है। इनमें प्रथम के अन्तर्गत मंगलाचरण और आश्रयदाता के वंश-परिचय के बाद द्वितीय से विवेचन आरम्भ किया गया है। द्वितीय और तृतीय उल्लासों में क्रमशः वर्णिक और मात्रिक गणों के स्वरूप तथा उनके फलादि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चतुर्थ में १ से २६ अक्षरों तक के २०० समवर्णिक छन्दों का, पंचम में

१० अर्द्धसमवर्णिक छन्दों का तथा षष्ठ में ३ विषम वर्णिक छन्दों का निरूपण किया गया है। सप्तम उल्लास के अन्तर्गत मात्रिक छन्दों के लगभग २०० भेदों का उल्लेख है, जिनमें से ५६ छन्दों का लक्षण-उदाहरण-सहित निरूपण किया गया है। ये सम, अर्द्धसम और विषम—तीनों ही प्रकार के हैं। अष्टम और नवम उल्लासों में क्रमशः वर्ण और मात्रा-प्रस्तार-रीति का संक्षिप्त परिचय है और दशम में छन्दों की विभिन्न जातियों का विवरण दिया गया है। एकादश उल्लास में सालूर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी नामक प्रसिद्ध दण्डकों का मुक्तक छन्दों के नाम से तथा द्वादश में अन्य १३ दण्डकों का परिचय दिया गया है। अन्तिम उल्लास में 'गद्य-विवरण' शीर्षक से पूर्णक, उत्कलिकाप्राय और वृत्त-गन्ध नामक गद्य के तीन भेदों का परिचय दिया गया है। इस विवेचन का आधार 'प्राकृतपैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर', पिंगल का 'छन्द-शास्त्र' आदि ग्रन्थ रहे हैं। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न जातियों के वर्णिक छन्दों की संख्याओं के कथन के साथ प्रसिद्ध मात्रिक छन्दों के विभिन्न भेदों का उल्लेख भी किया गया है। दूसरे, संस्कृत-शैली पर प्रत्येक छन्द का लक्षण भी उसका उदाहरण रहा है। लक्षण-उदाहरण अपने-आपमें स्वच्छ एवं सुबोध हैं। उदाहरण सामान्य रूप से आश्रयदाता की प्रशस्तियों से सम्बद्ध हैं। इनमें अनेक कवित्वपूर्ण भी हैं।

सुखदेव मिश्र : मुरलीधर 'भूषण' के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण छन्दोनिरूपक आचार्य सुखदेव मिश्र हैं। इनके 'वृत्तविचार' और 'छन्दोविचार' नामक दो ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से प्रथम ही उपलब्ध है। इसकी रचना १६७१ ई. में महाराज रामसिंह के आश्रय में हुई। यह चार परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत मंगलाचरण तथा कवि और उसके आश्रयदाता का परिचय है। द्वितीय में छन्द के सामान्य नियमों अर्थात् दग्धाक्षर, गुरु-लघु गण, प्रत्यय आदि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तृतीय परिच्छेद में १ से २६ अक्षरों तक के वर्णिक छन्दों का विवेचन है। इसमें ग्रन्थकार ने उक्ता, अत्युक्ता, गायत्री आदि जातियों तथा उनके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न

छन्दों का उल्लेख करते हुए केवल प्रसिद्ध छन्दों का निरूपण किया है। अर्द्धसम और विषम मात्रिक दण्डकों का सविस्तर विवेचन है। अन्तिम परिच्छेद में मात्रिक गणों, मात्रिक प्रत्ययों और उनके दोषों का वर्णन भी किया गया है। ग्रन्थ की परीक्षा करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इस पर तथापि इसमें विवेचन-शैली की अनेकरूपता के कारण यथोचित व्यवस्था नहीं आ पायी—कहीं तो इसीलिए एक जाति का छन्द दूसरी जाति के छन्दों के विवेचन में स्थान पा गया है। किन्तु, ये दोष अपने-आपमें बहुत अधिक नहीं हैं। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ पाण्डित्यपूर्ण कहा जा सकता है।

मतिराम : मुरलीधर 'भूषण' और सुखदेव मिश्र की कोटि के तीसरे गम्भीर छन्दो-विवेचक आचार्य मतिराम हैं। इनका छन्दोविवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ 'छन्दसारसंग्रह' अथवा वृत्त-कौमुदी (१७०१) है। कतिपय विद्वान् इसे किन्हीं परवर्ती मतिराम की कृति मानते हैं, किन्तु यह भ्रामक है। 'वृत्तकौमुदी' पांच अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'प्रकाश' संज्ञा दी गयी है। इनमें क्रमशः गण, वर्णिक छन्द, मात्रिक छन्द, प्रत्यय और दण्डकों का विवेचन किया गया है। गणों के प्रसंग में एक ओर वर्णिक गणों के स्वरूप, क्रम, देवता, फल, ग्रह, गुण, पिता, रस, रंग, देश, पुरुषार्थ, दिशामुख, वाहन, तेज,

जाति और प्रकृति का सविस्तार वर्णन किया गया है और दूसरी ओर देवनागरी वर्णमाला में प्रत्येक वर्ण के शुभाशुभ फल, लिंगभेद इत्यादि के साथ मात्रिक गणों का संक्षिप्त परिचय है। वर्णिक छन्दों में १ से लेकर २६ अक्षरों तक के १४७ छन्दों का वर्णन है। मात्रिक छन्दों में कुल मिलाकर ५५ छन्दों का वर्णन है, जिनमें १ से ३२ मात्राओं तक के ३५ सममात्रिक और शेष अर्द्धसम, विषम और दण्डक हैं। दण्डक छन्दों में अनंखगशेर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी नामक प्रसिद्ध दण्डकों का वर्णन किया गया है। प्रत्ययों के प्रसंग में प्रत्यय के समस्त भेदों का वर्णन मात्रा और वर्ण—दोनों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् किया गया है। रीतिकाल के अन्य छन्दोनिर्णयों के समान इनका आधार भी यद्यपि 'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'वृत्तरत्नाकर' का ही है तथापि इनके साथ इनकी टीकाओं एवं इतर ग्रन्थों का आश्रय भी लिया गया है। विषय-विवेचन सुबोध एवं स्वच्छ है—'अरिल्ल' के भ्रामक लक्षण को छोड़कर सभी लक्षण-उदाहरण शास्त्रीय एवं स्पष्ट हैं। इस विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि विवेचन-प्रसंग में मूल आधार-ग्रन्थों का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। उदाहरण सामान्यतः बुन्देलखण्ड-स्थित श्रीनगर के महाराज स्वरूपसिंह की प्रशस्ति सम्बन्धी है। ग्रन्थकार को जिन छन्दों में कवित्व-प्रदर्शन के लिए अवकाश मिला है, वहाँ उसका पूर्ण निर्वाह किया गया है।

रामसहाय : छन्दोनिर्णय के क्षेत्र में रामसहाय इस युग के सबसे प्रौढ़ आचार्य कहे जा सकते हैं। इनका 'वृत्तरंगिणी' (१८१६) नामक ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से इस युग की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त इनके 'शृंगार सतसई' तथा 'वाणीभूषण' नामक दो ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं—'सतसई' 'बिहारी-सतसई' के अनुकरण पर है और 'वाणीभूषण' में अलंकार-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ये काशी के महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रय में रहते थे। 'वृत्तरंगिणी' शास्त्रीय ढंग से चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'तरंग' संज्ञा दी गयी है। प्रथम तरंग में लघु-गुरु विषयक नियमों तथा गणों और उनके देवता, योग, फलादि के कथन के अतिरिक्त प्रत्यय आदि का विस्तृत

विवेचन किया गया है। द्वितीय तरंग में १ से ३२ मात्राओं की विभिन्न जातियों के छन्दों की सूची देते हुए उनमें से कतिपय का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकार ने सम, अर्द्धसम और विषम—इन तीन वर्गों में मात्रिक छन्दों को विभक्त करते हुए सममात्रिक छन्दों की संख्या बानवे लाख सत्ताईस हजार चार सौ तिरसठ बतायी है। यहीं पर मात्रिक दण्डकों का भी विवेचन किया गया है। तृतीय तरंग में संस्कृत-आचार्यों के समान उक्तादि जातियों में प्रत्येक के छन्दों की संख्या बताते हुए उनमें से अनेक समवर्णिक छन्दों के साथ कतिपय अर्द्धसम वृत्तों तथा दण्डकों का विवेचन भी किया गया है। चतुर्थ तरंग में तुक का विवेचन वैज्ञानिक ढंग से करते हुए उसके अनेक भेदों का परिचय दिया गया है। ग्रन्थ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर' आदि के अतिरिक्त हिन्दी के भी छन्दोनिरूपण विषयक ग्रन्थ रहे हैं। विवेचन-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ़ कहा जा सकता है। इसमें लक्षण दोहों से ही नहीं दिये गये, कहीं-कहीं सूत्र-पद्धति और कूट-शैली को भी अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग भी किया गया है। दूसरे, इसमें उदाहरण ग्रन्थकार के स्वरचित तो हैं ही, हिन्दी-संस्कृत-कवियों की रचनाओं को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि एक उदाहरण देकर विवेचन को चलता नहीं कर दिया गया—प्रत्येक विषय के लिए अधिक-से-अधिक उदाहरण देने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थकार द्वारा रचित उदाहरण सामान्यतः शृंगारिक हैं और अपने-आपमें सरस कहे जा सकते हैं। जिन नवीन छन्दों की इसमें उद्भावना की गयी है, वे ये हैं :

मात्रिक : माधुर्य, कलकण्ठ, इन्दिरा और नागर।

वर्णिक : ७ वर्ण—कलिन्दजा, पंचवर्ग, मृगाक्षी, ललित ललाम।

९ वर्ण—नवल, जमाल, मैत, धृति, सुखकन्द।

१० वर्ण—नागरी, मधु, वानिनि, कपटी।

१३ वर्ण—दीप्ति, मेनका, रति।

१४ वर्ण—रंभामाला, केदार, दामिनी, स्त्रीनुकान्ता, चोलपी, तार।

अन्य छन्दोनिरूपक कवि : इस काल के अन्य महत्त्वपूर्ण छन्दोनिरूपक आचार्य माखन और दशरथ हैं। माखन ने 'श्रीनागपिंगल अथवा छन्दविलास' (१७०२) के अतिरिक्त 'भक्ति-चिन्तामणि', 'रामप्रताप', 'जैमिनी अवशमेध', 'खूब तमाशा', 'सुदामाचरित' तथा 'विनोदशतक' नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी, जिनमें से अन्तिम दो उपलब्ध नहीं हैं। 'श्रीनागपिंगल अथवा छन्दविलास' तीन प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लघु-गुरु सम्बन्धी नियमों, वर्णिक और मात्रिक गणों तथा उनके देवता, फल और विभिन्न नामों के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र में व्यवहृत संख्याओं के द्योतक विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय प्रकरण में छप्पय और उसके ७१ भेदों का सविस्तार विवेचन-विश्लेषण है तथा तृतीय में सम, अर्द्धसम और विषम मात्रिक छन्दों का विवेचन किया गया है। प्रस्तार-रीति आदि गूढ़ विषयों का इसमें स्पर्श नहीं किया गया है। उदाहरण प्रायः सरस हैं तथा आश्रयदाताओं की प्रशस्ति के अतिरिक्त कृष्णलीलाओं से भी सम्बद्ध हैं। कुम्भक, हरिमालिका, मदनमोहन, सुरस, तरलगति, सदागति, सुबल, प्रवाह और गन्धार नामक मात्रिक छन्दों का निरूपण सर्वप्रथम इन्होंने ही किया है। अतएव ये इनकी उद्भावना कहे जा सकते हैं। इस ग्रन्थ में विवेचन का आधार मुख्य रूप से 'प्राकृतपैंगलम्' रहा है।

माखन के समान नवीन छन्दों के उद्भावक आचार्यों में दशरथ का नाम भी लिया जा सकता है। इनका ग्रन्थ 'वृत्तविचार' (१७९९) चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'विचार' संज्ञा दी गयी है। प्रथम विचार के अन्तर्गत लघु-गुरु सम्बन्धी सामान्य नियमों, वर्णिक गणों तथा प्रस्तार-रीति के परिचय के अतिरिक्त मात्रावृत्त, वर्णवृत्त और उभयवृत्त नाम से छन्दों के तीन वर्गों का उल्लेख किया गया है—सम, अर्द्धसम और विषम नामक वर्गों की किसी भी रूप में चर्चा नहीं की गयी है। द्वितीय विचार में वर्णिक छन्दों का तथा तृतीय में मात्रिक गणों का परिचय तथा मात्रिक छन्दों का विवेचन किया गया है। गाहा, विग्गाहा आदि कतिपय छन्दों का निरूपण यहां पर विषमपद छन्दों के रूप में किया गया है। चतुर्थ विचार का शीर्षक यद्यपि 'वर्णवृत्तानि' दिया गया है, तथापि इसमें केवल घनाक्षरी और श्लोक (अनुष्टुप) का ही विवेचन हुआ है। ग्रन्थ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वृत्तरत्नाकर' प्रतीत होते हैं। विवेचन साधारण कोटि का है, तथापि ग्रन्थकार को कतिपय वर्णिक छन्दों (महीप, विमला, दामिनी, सुभग, नग, लगन, गगन, छगन, अगन, मणिहारबन्द, संवत, कुशल, सुधा, अभिनव, हरिहर, मतंग) और मद, सैनिक, मुक्तावली, सुमन और अह्न नामक मात्रिक छन्दों की उद्भावना का श्रेय दिया जा सकता है।

रीतिबद्ध काव्य

रीतिकालीन कविता के प्रसंग में विद्वानों ने तीन प्रकार के काव्य का विवरण दिया है—एक रीतिबद्ध, दूसरा रीतिसिद्ध और तीसरा रीतिमुक्त। 'रीतिमुक्त' के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है, परन्तु 'रीतिबद्ध' शब्द के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'रीतिबद्ध' रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होती है, परन्तु डॉ. नगेन्द्र इस प्रकार की रचनाओं को रीतिबद्ध कहने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसे कवियों को वे रीतिकार या आचार्य कवि मानते हैं। रीतिकार आचार्य कवि उनके मत से वे कवि हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका प्रमुख उद्देश्य या तो काव्य की शिक्षा देना है या किसी काव्यशास्त्रीय विषय का सोदाहरण प्रतिपादन करना। उनकी दृष्टि में रीतिबद्ध कवि वे हैं, जिन्होंने रीतिग्रन्थों की रचना न करके काव्य-सिद्धान्तों या लक्षणों के अनुसार काव्य-रचना की है। अलंकार, रस, नायिकामेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान में तो रहे हैं, परन्तु उनका प्रत्यक्षतः निरूपण इन कवियों ने नहीं किया; वरन् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य का सृजन किया है। ऐसी दशा में मूलतः वे कवि हैं, आचार्य नहीं। इसलिए उन्हें रीतिबद्ध कवि मानना चाहिए। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ऐसे कवियों को 'रीतिसिद्ध कवि' कहते हैं। अतः इस प्रसंग में यहां आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी के अनुसार जो रीतिसिद्ध कवि हैं, तथा डॉ. नगेन्द्र के अनुसार जो रीतिबद्ध कवि हैं, उन्हीं का विवेचनात्मक परिचय रीतिबद्ध कवियों के अन्तर्गत दिया जा रहा है।

'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, 'षष्ठ भाग' में रीतिबद्ध कवियों के प्रसंग में निम्नलिखित कवियों को सम्मिलित किया गया है—१. बिहारी, २. बेनी, ३. कृष्ण कवि, ४. रसनिधि, ५. नृपशम्भु, ६. नेवाज, ७. हठी जी, ८. रामसहायदास, ९. पजनेस, १०. द्विजदेव। इन कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में सेनापति, वृन्द तथा विक्रम को और सम्मिलित करना आवश्यक है, क्योंकि ये कवि भी उसी परम्परा के हैं।

सेनापति : कविवर सेनापति की जीवनी के सम्बन्ध में अधिक सामग्री नहीं मिलती। जो कुछ भी सूचना ज्ञात है, वह इनकी रचना के आधार पर ही है। सेनापति ने अपने ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' में अपना परिचय दिया है, जो इस प्रकार है :

दीक्षित परसराम दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ जा की जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाकौ,
गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है।
महा जानिमनि विद्यादान हू को चिन्तामनि,
हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई हैं॥

इस छन्द से स्पष्ट होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था तथा इनके पिता गंगाधर दीक्षित गंगा के किनारे अनूप बस्ती में रहते थे। 'अनूप' का अर्थ गंगा के किनारे स्थित प्रसिद्ध नगर अनूपशहर भी हो सकता है, जो उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर जिले में स्थित है। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, पर जब तक अन्य प्रमाण न मिलें, तब तक उन्हें अनूपशहर का निवासी मानने में कोई हानि नहीं है। कुछ लेखक सेनापति को संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् भट्ट नागेश दीक्षित से अभिन्न सिद्ध करते हैं। उनका भी यही कथन है कि भट्ट नागेश दीक्षित उसी समय के थे, और वे भी गंगा के तट पर ही निवास करते थे। यह सत्य है कि सेनापति भी अपनी रचनाओं के आधार पर संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् सिद्ध होते हैं, परन्तु वे भट्ट नागेश दीक्षित ही हैं—यह कहना कठिन है; क्योंकि नागेश भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट था और वे शृंगवेरपुर के महाराज रामदत्त के आश्रय में

रहते थे। वे प्रसिद्ध वैयाकरण थे और अधिकतर काशी में ही रहे। वे महाराष्ट्री ब्राह्मण थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की टीका की। नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित थे, परन्तु नागेश भट्ट की किसी हिन्दी-रचना का पता नहीं लगता; न नागेश भट्ट के 'सेनापति' उपनाम के सम्बन्ध में ही कोई सूचना प्राप्त होती है। परन्तु दोनों में कुछ साम्य ऐसा है, जो इस अनुमान को पुष्ट करता है कि दोनों एक हो सकते हैं। सेनापति के पिता का नाम गंगाधर था, जो शिव का ही दूसरा नाम हो सकता है; और शिव भट्ट नागेश जी के पिता थे। इसी प्रकार सेनापति के गुरु हीरामनि दीक्षित थे जबकि नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित थे। हरि और हीरा में ध्वन्यात्मक साम्य है। इसके अतिरिक्त सेनापति की प्रसिद्धि सीतापति के प्रसाद से हुई। नागेश जी भी महाराज राम के आश्रित थे तथा दोनों ही गंगा के किनारे रहनेवाले थे। अनुमान के लिए थोड़ा आधार यद्यपि इन बातों से मिल जाता है, परन्तु निश्चित रूप से प्रमाण के साथ यह कहना कठिन है कि सेनापति और नागेश भट्ट एक ही हैं।

सेनापति के सम्बन्ध में और कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। अभी तक इनकी एक ही कृति 'कवित्त रत्नाकर' प्राप्त हुई है। कुछ इतिहासकारों ने इनकी दूसरी कृति 'काव्यकल्पद्रुम' भी मानी है, पर वह उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'कवित्त-रत्नाकर' को एक ही ग्रन्थ मानते हैं। 'कवित्त रत्नाकर' में पांच तरंगों और तीन सौ चौरानवे छन्द हैं। इसके अन्तर्गत सेनापति ने श्लेष अलंकार, शृंगार, षड्भूत, रामायण और रामरसायन का वर्णन किया है। प्रथम तीन तरंगों से स्पष्ट होता है कि इनका प्रणयन रीति-परम्परा का ध्यान रखकर किया गया है। छन्दों की मूल चेतना रीतिकालीन है, इसलिए इन्हें रीतिबद्ध कवि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सेनापति का प्रिय अलंकार श्लेष है, इसीलिए इन्होंने पूरी-की-पूरी तरंग श्लेष अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिए

रची है। इनके ये श्लेष बड़े ही रोचक हैं—श्लेष की योजना में इनकी समता करनेवाला केशव को छोड़कर अन्य कोई कवि नहीं है। सभंग-पद-श्लेष और अभंग-पद-श्लेष दोनों का चमत्कार इसमें मिलता है। 'कवित्त रत्नाकर' की दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन है जिसके अन्तर्गत नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन भाव, वयःसन्धि आदि का मनोहारी चित्रण हुआ है। शृंगार के कहीं-कहीं बड़े सुन्दर चित्र इसमें हैं पर मूल प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन का है; भाव और गुण का विश्लेषण उतना नहीं है। एक छन्द द्रष्टव्य है :

नूपुर को झनकाइ मेदनी धरति पाइ,
ठाढ़ी आइ आंगन भई ही सांझी बार सी।
करता अनूप कीन्हीं रानी मैं न भूप की सी,
राजे रासि रूप की बिलास को आधार सी।
'सेनापति' जाके दुगदूत ह्वै मिलत दौरि,
कहत अधीनता को होत है सिपारसी।
गेह को सिंगार सी सुरत सुख सार सी,
सो प्यारी मानो आरसी चुभी है चित आर सी।।

सेनापति की अप्रतिम सफलता उनके उत्कृष्ट ऋतु-वर्णन में है जिसमें यद्यपि शब्द और अर्थ का चमत्कार भरा पड़ा है, परन्तु वर्णित ऋतु का सहज और यथार्थ स्वरूप उनके छन्दों में बड़ा खरा उतरता है। प्रत्येक ऋतु में उठनेवाले लोक-मानस के सहज भाव भी ऋतु-वर्णन के छन्दों में तरंगित हो उठते हैं। इनके ऋतु-वर्णन के छन्द भी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सभी ऋतुओं का सुन्दर वर्णन इन्होंने किया है, पर ग्रीष्म और वर्षा का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। केवल एक ही छन्द इसके लिए पर्याप्त होगा :

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, न पाई प्रेम पतियां।
धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, हैं
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी, तू
मेरी प्रानप्यारी यह पीतम की बतियां।
बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की,
द्रग भई बावन की, सावन की रतियां।

चौथी और पांचवीं तरंगों में राम का चरित्र और रामभक्ति-भावना का संक्षिप्त सुन्दर वर्णन है। इन तरंगों में शृंगार, वीर, शान्त और भक्ति-भाव प्रधान हैं। पांचवीं तरंग में भी आलंकारिक चमत्कार भरा पड़ा है जिसमें यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर आदि के चमत्कार की विशेषता है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। निश्चित एवं सुनियोजित लय में सन्तुलित गति से चलती हुई उनके छन्दों की पंक्तियां नर्तकी के पद-संचार का सौन्दर्य बिखेरती हैं। उनके वर्णों और शब्दों का ध्वनि-सौन्दर्य नृत्य के मनोहर लालित्य से युक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि

३४८ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। शब्द-चमत्कार के साथ-साथ उनकी कविता में उक्ति-वैचित्र्य भी है, जो उनकी प्रतिभा और सूझ का परिचायक है। इन सब विशेषताओं से युक्त सेनापति की कविता एक अणना परिमार्जित और विलक्षण व्यक्तित्व प्राप्त किये हुए है और उसे अन्य कवियों की रचनाओं के बीच सहज ही पहचाना जा सकता है। सेनापति का रचना-काल १६५० ई. के लगभग है, जैसा कि 'कवित्त रत्नाकर' की पांचवीं तरंग के इस दोहे में देखा जा सकता है :

संवत सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाइ।

सेनापति कविता सजी, सज्जन सजौ सहाइ।।

बिहारी : बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म १५९५ ई. में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, परन्तु ये केशवराय प्रसिद्ध आचार्य केशवदास से भिन्न थे। इनके पिता निम्बार्क-सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य थे। बिहारी ने उनके यहाँ संस्कृत-प्राकृत के काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बाद में ये वृन्दावन आ गये और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण-परिवार में इनका विवाह हुआ। तदुपरान्त ये वहीं रहने लगे। उसी बीच इन्होंने फारसी-काव्य का अभ्यास किया और बादशाह शाहजहाँ से भेंट की। शाहजहाँ के कृपापात्र बिहारी का सम्पर्क अन्य राजाओं से भी हुआ; और अनेक राज्यों से इनके लिए वृत्ति बंध गयी। सन् १६४५ के आसपास ये जब वृत्ति लेने जयपुर गये तो पता लगा कि वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं और राज-काज देखना छोड़ दिया है। सामन्तगण तथा प्रजा के लोग व्यथित थे। उसी समय बिहारी ने एक दोहा लिखकर महाराज के पास पहुँचाया, जो इस प्रकार है :

जिसे बंशीधर ने संवत् 1792 में बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषणचंद्रिका'।

✓ 4. बिहारीलाल—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव में संवत् 1660 के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। अनुमानतः ये संवत् 1720 तक वर्तमान रहे। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिए महलों के बाहर निकलते ही न थे। इस पर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

[नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल ।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि इस पर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बनाकर सुनाने लगे और प्रति दोहे पर एक अशरफी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगाररस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं में 4-5 टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लाल चंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलियाँ, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलियाँ इन दोहों पर बहुत अच्छी हैं, पर अधूरी हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलियाँ रचकर पूर्ति करनी चाही थी। पं. अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाए हैं। पं. परमानंद ने 'शृंगार सप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सबसे उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्यमर्मज्ञ और ब्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने निकाला। जितने श्रम और

जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिन्दी का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को अत्यंत मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहारशक्ति के साथ भाषा की समाहारशक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं, रस के छोटे छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर ।

देखत में छोटे लगैं बेधैं सकल शरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है । अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्तिकौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान से इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है । अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है । नीचे की हावभरी सजीव मूर्तियाँ देखिए—

[बतरस लालच लाल की मुरली धरि लुकाइ ।

[सौंह करै, भौंहनि, हँसे, देन कहै, नटि जाइ॥

[नासा मोरि, नचाइ दृग, करी केका की सौंह ।

[काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कंटीली भौंह॥

[ललन चलनु सुनि पलनु में अँसुवा झलके आइ ।

[भई लखाइ न सखिनु हूँ, झूठें ही जमुहाइ॥

✓ भावव्यंजना या रसव्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तुव्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में। कहीं कहीं वस्तुव्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है; जैसे—इन दोहों में—

[पत्रा की तिथि पाइयै, वा घर के चहुँ पास ।
 नित प्रति पून्यौई रहै आनन ओष उजास॥
 [छाले परिवे के डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
 झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥
 [इत आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ ।
 चढ़ी हिंडोरे सैं रहै लगी उसासन साथ॥
 सीरैं जतननि सिसिर ऋतु सहि विरहिनि तनताप ।
 बसिवे कौं ग्रीष्म दिनन पर्यो परोसिनि पाप॥
 आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति ।
 साहसु ककै सनेहबस, सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं, पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

ढीठि परोसिनि ईट ह्वै कहे जु गहे सयान ।
 सबै सँदेसे कहि कछो मुसुकाहट मैं मान॥
 नए विरह बढ़ती बिथा खरी बिकल जिय बाल ।
 बिलखी देखि परोसिन्यों हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर में सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने जोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई अलंकार उलझ पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं—

दृग अरुझत, दूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
 परति गाँठ दुरजन हिंयै; दई, नई यह रीति॥
 तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग ।
 अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

दो-एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहें मैं न।

लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन॥

शृंगार के संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस स्मरण में कैसी गम्भीर तन्मयता है—

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।

मन ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें बहुत सी नीतिसंबंधिनी हैं। सूक्तियों में वर्णनवैचित्र्य या शब्दवैचित्र्य ही प्रधान रहता है। अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्दवैचित्र्य के लिए बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे यहाँ दिए जाते हैं—

[यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुणौ दीपक देह।

तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह॥

[कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।

वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय।

[तो पर वारैं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।

तू मोहन कै उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे 'आर्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' की छाया लेकर बने हैं, इस बात को पं. पद्मसिंह शर्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही, उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए 'समर' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि क्रांति को 'संक्रमण' (अप. सक्रोम) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाति' से निकला है—जुही से कोई मतलब

नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नखशिख', 'नायिकाभेद', 'षट् ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख, उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्षों से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का सा गूँजनेवाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह है कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।

अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल।।

बिहारी के इस दोहे का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा और महाराज जयसिंह तथा चौहानी रानी दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इनको काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया तथा प्रति छन्द पर एक मुहर पुरस्कार में देने का संकल्प किया। तदुपरान्त बिहारी जयपुर में ही रहने लगे और आमेर दरबार के राजकवि के रूप में अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगे। चौहानी रानी से कुमार रामसिंह का जन्म हुआ और तदनन्तर राजकुमार के बड़े होने पर बिहारी ने ही उसका विद्यारम्भ संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए इन्होंने अपने दोहों का संग्रह किया, साथ-ही-साथ अनेक दोहे भी आवश्यकतानुसार संकलित किये। इस प्रकार बिहारी का जयपुर के राज-परिवार में विशिष्ट स्थान हो गया। बिहारी के कोई सन्तति नहीं थी। कहते हैं कि निरंजन कृष्ण को इन्होंने गोद लिया था। एक कृष्ण कवि 'बिहारी सतसई' के टीकाकार हुए हैं। हो सकता है कि ये कृष्ण कवि निरंजन कृष्ण ही हों। परम्परा के अनुसार 'बिहारी सतसई' का समाप्ति काल सन् १६६२ माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि बिहारी का देहावसान सन् १६६३ में हुआ।

बिहारी की ख्याति का मूल आधार उनका अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' है। यह 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुकशतक' आदि ग्रन्थों की प्रेरणा से निर्मित एक विविध रत्नमाला है, जिसकी आभा के सामने आज भी कोई मुक्तक काव्य ठहर नहीं पाता। मुक्तक-परम्परा में बिहारी का

स्थान शीर्ष पर है। 'सतसई' में बिहारी ने अलंकार, रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि का ध्यान रखकर सुन्दर दोहे रचे हैं। यह सतसई-परम्परा की एक उज्ज्वल कड़ी है। 'सतसई' के अन्तर्गत आलंकारिक चमत्कार और भाव-सौन्दर्य दोनों ही हैं। इसमें ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अतः बिहारी की रचना रीतिबद्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएं हो गयी हैं, जिनसे इसकी लोकप्रियता का पता चलता है। डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार यूरोप में 'बिहारी सतसई' के समकक्ष कोई रचना नहीं है। बिहारी ने प्रेम और कला दोनों का महत्त्व अंकित किया है। उन्होंने लिखा है :

तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।

अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ, इसलिए उनका एक-एक दोहा मर्मस्पर्शी है और हमारे समक्ष सौन्दर्य तथा प्रेम-क्रीड़ा की मनोरम झांकियां प्रस्तुत करता है। बिहारी अपने संक्षिप्त वर्णन और नपे-तुले शब्दों में किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव का जगमगाता रूप निखारकर प्रस्तुत करते हैं। उनके रूप-वर्णन, वयःसन्धि के चित्रण तथा मादक एवं गदरायी युवावस्था की मधुर झलकें मन को मुग्ध कर लेती हैं और ये चित्रण केवल काल्पनिक न होकर जीवन के यथार्थ रूप हैं। बिहारी ने अपनी पैनी दृष्टि से जीवन का निरीक्षण किया था; अतः उन्होंने युवा वृत्तियों का सजीव चित्रण किया है। शृंगार के संयोग-पक्ष के चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। आन्तरिक

भावना से प्रेरित शारीरिक चेष्टाओं तथा विभिन्न कार्यकलाप का चित्रण बिहारी इस प्रकार करते हैं कि वह मानस-पटल पर सदा के लिए अमिट हो जाता है। उन्होंने केवल भावुकता-वश सौन्दर्य चित्रण ही नहीं किया वरन् जीवन के प्रौढ़ अनुभवों का भी उद्घाटन किया है। वे अपने भावों और विचारों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। भक्ति एवं नीति के मार्मिक दोहे भी उन्होंने लिखे हैं। इस प्रकार 'बिहारी सतसई' शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी है।

ब्रजभाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। उनको शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख थी। शब्द और वर्ण उनके दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों की आभा बिखेरते हैं। शब्द को मांजने, चमकाने, मोड़ने और संवारने की कला में बिहारी सिद्धहस्त हैं। उनकी रचना में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता और भाव-सम्पन्नता में इठलाती हुई चलती है—वह लय और गति, संगीत और नर्तन की विशेषताओं से युक्त है। उनकी भाषा प्रांजल, प्रौढ़, मधुर और सरस है। निम्नलिखित उदाहरण इसके प्रमाण हैं :

अंग-अंग नग जगमगति, दीप सिखा-सी देह।

दीया बुझाए हूँ रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।

अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन॥

केसरि कै सरि क्यों सके, चम्पक कितक अनूप।

गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप॥

उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट है कि भाव, अनुभूति और चेतना को बिहारी किस प्रकार मार्मिक शब्दों और प्रभावशाली बिम्बों में प्रकट करने की क्षमता रखते हैं ! बिहारी विदग्ध कवि होते हुए भी अत्यन्त

३५० :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

मौलिक हैं। केवल एक ग्रन्थ की रचना करके भी कवियों की पंक्ति में बिहारी का उत्कृष्ट स्थान है। कवि के रूप में वे हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं और उनकी 'सतसई' काव्य की अपूर्व निधि है।

रसनिधि : रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह था। 'रसनिधि' इनका उपनाम था। ये दतिया राज्य में बरौनी इलाके के जागीरदार थे। इनका सम्पर्क धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ स्वामी से भी हुआ था। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री नहीं मिलती है। इनका रचना-काल १६०३ से १६६० ई. तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ अग्रलिखित हैं—रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासा, रसनिधि सागर, हिंडोला, अरिल्ल आदि। इनकी ख्याति का मूल आधार 'रतनहजारा' नामक दोहा-संग्रह है, जो 'बिहारी' 'सतसई' के अनुकरण पर लिखित है। इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रेम और शृंगार के कवि थे। इनकी रचनाओं पर वैष्णव भक्ति और सूफी-परम्परा के फ़ारसी-काव्य का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। धार्मिक दृष्टि से ये बड़े उदार थे और इन्होंने हिन्दू-मुसलमान का भेद स्वीकार नहीं किया था। इसका कारण स्वामी प्राणनाथ का सम्पर्क था। इसलिए इनके दोहों में आत्म-तत्त्व की व्यापकता लक्षित होती है। फिर भी, रसनिधि की मूलवृत्ति प्रेम और शृंगार है, जिसको इन्होंने समकालीन रीति-परम्परा का ध्यान रखकर प्रस्तुत किया है। ऐसे दोहों में रूप-वर्णन की रीतिबद्ध विशेषता, जिसमें अलंकृति और शृंगार-परम्परा विद्यमान है, प्राप्त होती है। इनके अनेक दोहे बिहारी और मतिराम से तुलनीय हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

लाल भाल पै लसत है, सुन्दर बेदी लाल।
कियो तिलक अनुराग ज्यों, लखि कै रूप रसाल॥
सबही को पोषन करै, अमृत कला सरसाइ।
ससि चकोर के दरद को, अज्यौं सकत नहिं पाइ॥
पल अंजुरिन सों पियत डुंग, जल असुवां भरि सांस।
गनित रहित हैं अवधि कै, दिन पखवारे मास॥

उपर्युक्त दोहों में रसनिधि की अलंकारप्रियता, नशशिख-सौन्दर्य-चित्रण, सौन्दर्यानुभूति और विरह-भावना के चित्रण की प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। इस प्रकार से इनके दोहों में रीतियुगीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

वृन्द : वृन्द (१६४३-१७२३) कवि के पूर्वज बीकानेर के रहनेवाले शाकद्वीपी भोजक ब्राह्मण थे, परन्तु किन्हीं कारणों से इनके पिता श्री रूप जी मेड़ते में आकर बसे। वहीं वृन्द का जन्म हुआ। इनका पूरा नाम वृन्दावन था। बचपन से ही ये सुशील, गम्भीर और तीव्र-बुद्धि थे। दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता ने इन्हें विद्याध्ययन के लिए काशी भेजा। वहां तारा पण्डित के पास रहकर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, गणित, दर्शनशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया और काव्य-रचना भी सीखी। काशी से लौटने पर मेड़ते में इनका बड़ा सम्मान हुआ और जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह ने इन्हें कुछ भूमि प्रदान की। उन्हीं के द्वारा औरंगजेब के वज़ीर नवाब मुहम्मद खां से इनका परिचय हुआ और इनका प्रवेश बादशाह के दरबार में हुआ। कहते हैं कि औरंगजेब ने इन्हें समस्या दी—'पयोनिधि पैर्यो चाहे मिसिरी की पुतरी।' वृन्द ने उसकी उसी समय पूर्ति की, जिस पर प्रसन्न होकर औरंगजेब के मुंह से 'खूब-खूब' प्रशंसात्मक शब्द निकले और उसने बहुत-सा धन देकर इन्हें अपना दरबारी कवि बनाया। तदनन्तर उसने इन्हें अपने ज्येष्ठ पुत्र शहज़ादा मुअज़्ज़म तथा पौत्र

अज़ीमुस्सम्म का शिक्षक नियुक्त किया। वृन्द उसके साथ उड़ीसा और बंगाल गये और उसके आग्रह से बहुत-सी रचनाएं लिखीं। सन् १७०७ के लगभग किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने वृन्द को मांग लिया और अच्छी जागीर देकर इन्हें किशनगढ़ में बसाया।

वृन्द की रचनाओं में सोलह अधिक प्रसिद्ध हैं, जो नीति, भक्ति, वार्ता तथा शृंगार से सम्बन्धित हैं। इनमें से अग्रलिखित छह रचनाएं रीतिबद्ध कही जा सकती हैं—बारहमासा (१६६८), भावपंचाशिका (१६८६), नयन पचीसी (१६८६), पवन पचीसी (१६९१), शृंगार शिक्षा (१६९१), यमक सतसई (१७०६)। ये रचनाएं रीति-परम्परा की हैं, अतः यहां इन्हीं का परिचय अभीष्ट है। 'बारहमासा' में बारहों महीनों का सुन्दर वर्णन है। 'भाव-पंचाशिका' में शृंगार के विविध भावों के अनुसार सरस छन्द लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है :

आयो असन्त बसन्त समैं, निज कन्त विदेस दिगन्त लियो है।
बागनि बागनि कोकिल कूकि, बियोगिनि कौं दुख घोर दियो है।
तानि कमान की बाननि सौं, हनि कै तन व्याकुल काम कियो है।
चातुरि नागरि ह्वै, तब काहे मलैगिरि पौन पियो है?

उपर्युक्त छन्द में उद्दीपन के रूप में वसन्त का चित्रण किया गया है। 'शृंगार शिक्षा' में नायिकाभेद के आधार पर आभूषण और शृंगार के साथ नायिकाओं का चित्रण है। इस ग्रन्थ में लक्षण का आश्रय पूर्णतः स्पष्ट दीखता है। 'नयन पचीसी' के अन्तर्गत नेत्रों के महत्त्व तथा नेत्रों द्वारा प्रकट विभिन्न भावों का चित्रण है। इसमें कवि ने रीति का आश्रय लेकर नखशिख, राग-रंग, अंजन, रस और विरह का चित्रण किया है। कवित्व की दृष्टि से 'नयन पचीसी' बहुत उत्कृष्ट तो नहीं है, पर युगीन परम्परा से जुड़ी हुई है। इसमें दोहा, सवैया और घनाक्षरी छन्दों का प्रयोग है। 'पवन पचीसी' वास्तव में षडऋतु-वर्णन का एक स्वरूप है। इसके अन्तर्गत वृन्द ने पवन के वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के अन्तर्गत स्वरूप और प्रभाव का चित्रण किया है। इसमें पच्चीस छप्पय छन्द हैं, जो बड़े ललित और प्रभावपूर्ण हैं। वृन्द ने वसन्त और हेमन्त ऋतुओं का विशेष वर्णन किया है। अधिकांश छन्द सुन्दर हैं। इनमें कल्पना का चमत्कार उतना नहीं है, जितना अनुप्रास आदि का। फिर भी, भाषा बहुत सुगठित नहीं कही जा सकती। 'यमक सतसई' में विविध प्रकार से यमक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसके अन्तर्गत ७१५ छन्द हैं। यह रचना चमत्कारपूर्ण है। यमक का लक्षण दिये बिना उसके आधार पर रचित इस कृति का वर्ण्य विषय शृंगार और भक्ति है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

मुरली मुरलीधर घरी, अरी परी धुनि कान।
जातन जात न बनत है, लाज करी कुल कान॥
देह दही बेचत दही, दई दई यह जाति।
गोरस मिस गोरसहिं, हरि, मग मंडराति डराति॥

इस प्रकार वृन्द कवि की रचनाएं रीतिबद्ध परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन्होंने सरल, सरस और विदग्ध सभी प्रकार की काव्य-रचना की है।

नृप शम्भु : नृप शम्भु के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। किन्हीं ने इन्हें सितारागढ़ वाले और किन्हीं ने शम्भुनाथसिंह सोलंकी कहा है। नृप शम्भु की

रचनाओं में जो उपनाम प्रयुक्त हुए हैं, वे हैं—नूप शम्भु, शम्भुराज, शम्भु कृति शम्भु जू आदि। शम्भुराज या नूप शम्भु छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र थे। इनका जन्म १६५७ ई. में पुरन्दर में हुआ था। दो वर्ष बाद ही माता का स्वर्गवास हो गया; अतः इनका पालन-पोषण इनकी दादी अर्थात् शिवाजी की माता जीजाबाई ने किया। नूप शम्भु की शिक्षा-दीक्षा तत्कालीन परम्परा के अनुसार हुई, जिसमें इन्होंने संस्कृत, फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त किया। नूप शम्भु ने संस्कृत में 'बुधभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिससे स्पष्ट है कि इन्होंने 'अलंकारशास्त्र' पुराण, संगीत और धनुर्विद्या में शिक्षा प्राप्त की थी। इनका विवाह सन् १६६५ में येसूबाई से हुआ; जो बड़ी योग्य पत्नी थीं। वे राजनीति में बड़ी निपुण थीं और राजकाज में भी सहायता देती थीं।

शम्भुराज को आठ वर्ष की अवस्था में औरंगजेब द्वारा 'पंचहज़ारी' पद प्रदान किया गया। १५ मई, सन् १६६६ को औरंगजेब की प्रार्थना और राजा जयसिंह के आश्वासन पर पंचहज़ारी शम्भुराज तथा शिवाजी ने बादशाह औरंगजेब से भेंट की। वहीं छल करके बादशाह ने इन्हें कैद कर लिया। बड़ी कठिनता और चतुराई से ये दोनों बन्दी-गृह से मुक्त हुए। शम्भुराज उस समय केवल नौ वर्ष के थे। इन्हें मथुरा छोड़कर शिवाजी बनारस होते हुए महाराष्ट्र लौट आये। वहाँ रहने के कारण ही नूप शम्भु पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा और इन्होंने उत्तम ब्रजभाषा-काव्य की रचना की। कुछ लोग इन्हें व्यसनी और विलासी मानते हैं, परन्तु तथ्य यह नहीं जान पड़ता। ये वीरता तथा धर्म पर प्राण देनेवाले व्यक्ति थे। शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने औरंगजेब का मुकाबला किया। अन्त में ये कैद कर लिये गये, इनकी आंखें निकाल ली गयीं तथा शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर मृत्युदण्ड दिया गया।

नृप शम्भु की तीन हिन्दी-कृतियां प्राप्त होती हैं—'नायिकाभेद', 'नखशिख' और 'सात शतक'। प्रथम दो रचनाएं इनकी उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का प्रमाण हैं। इनके छन्दों को देखकर आश्चर्य होता है कि एक मराठीभाषी व्यक्ति किस प्रकार ऐसी सुन्दर ब्रजभाषा में रचना कर सका है। नृप शम्भु की उपर्युक्त दोनों रचनाएं रीति-परम्परा पर आधारित हैं और उत्कृष्ट कोटि की हैं। इनमें कल्पना की नवीनता के साथ भाव और भाषा का लालित्य भी विद्यमान है। यथा :

सासु कह्यो दधि बेचन को,
सुदई सुखदाई कहां ते धौं हांक री।
मोहि मिले 'नृपशम्भु' गुपाल,
तमाल तरे वह गैल जो सांकरी।।
मो तन ताकि बड़ी अंखियान तें,
कांकरी लै धिरि मो तन धांकरी।
कांकरी ओड़ि गयी कर तें पै,
करेजे कहां धौं गयी गड़ि कांकरी।।

उपर्युक्त छन्द से स्पष्ट है कि नृप शम्भु की रचना में भाव को समुचित रूप से उभारनेवाली सुन्दर कल्पना तथा सुन्दर सार्थक शब्द-योजना विद्यमान रही है। यद्यपि इन्होंने रीति-परम्परा को आधार बनाकर लिखा है, फिर भी सर्वत्र परम्परागत उपमानों का प्रयोग न कर नये उपमानों में अपने छन्दों को अलंकृत किया है। इनके नखशिख सम्बन्धी छन्द विशेष रूप से प्रभावशाली हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि नृप शम्भु ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में देव और मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं।

नेवाज : नेवाज महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनका समय सन् १६८० के आसपास मानना चाहिए। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज तिवारी थे। छत्रसाल से इनका सम्बन्ध भगवन्त कवि के निम्नलिखित दोहे से प्रमाणित होता है :

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महाराज।

जहं भगवत गीता पढ़ी, तहं कवि पढ़त नेवाज।।

इससे स्पष्ट होता है कि नेवाज छत्रसाल के दरबार में भगवन्त कवि के पश्चात् नियुक्त हुए। नेवाज कवि के सम्बन्ध में और विशेष जानकारी नहीं मिलती। इनका 'शकुन्तला नाटक' नामक ग्रन्थ मिलता है, जो वास्तव में नाटक न होकर काव्य-ग्रन्थ ही है। इसमें उत्तम छन्द-रचना है तथा भावों का मार्मिक चित्रण मिलता है। मिश्रबन्धुओं ने इनकी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। संयोग शृंगार का इन्होंने विशेष वर्णन किया है। इनकी रचना-शैली रीति-स्वच्छन्द कवि ठाकुर की टक्कर की है। ऐसा लगता है कि इन्होंने शृंगार का व्यापक वर्णन करनेवाला कोई ग्रन्थ लिखा होगा, परन्तु अब वह नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में जो स्फुट छन्द मिलते हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इन्होंने सहज ढंग से प्रेम-व्यापार का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए यह छन्द देखिए :

आगे तें कीन्हीं लगा लगी लोयन कैसे छिपै अजहूं जो छिपावति।

तू अनुराग की सौध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति।

कौन सकोच रह्यो है 'नेवाज' जो तू तरसै उनहूं तरसावति।

बावरि जो पै कलंक लग्यो तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति।।

कृष्ण कवि : कृष्ण कवि ने 'बिहारी सतसई' के प्रत्येक दोहे पर सवैया बनाया था, इस कारण बिहारी की परम्परा में इन्हें रीतिबद्ध कवियों के अन्तर्गत रखना उचित है। कृष्ण कवि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सूचना नहीं है। ये 'बिहारी सतसई' की सर्वप्रथम काव्यात्मक टीका करनेवाले व्यक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का विचार है कि ये जयपुर-नरेश महाराज जयशाह के मन्त्री के आश्रित थे और उन्हीं के आग्रह से इन्होंने 'बिहारी सतसई की टीका' लिखी। कुछ अन्य विद्वान् कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र मानते हैं, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यदि ये बिहारी के पुत्र होते तो अपने ग्रन्थ में कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते। कृष्ण कवि के द्वारा लिखित दो ही ग्रन्थ ज्ञात हुए हैं—'बिहारी सतसई की टीका' और 'विदुर-प्रजागर'। इनसे इनका समय १७२० ई. के आसपास ठहरता है। इनकी कवित्त-सवैयाबद्ध टीका वास्तव में बड़ी रोचक है। उसके अन्तर्गत 'सतसई' के दोहों में प्रकट किये गये भावों का पल्लवन हुआ है। इससे इनका कवि-रूप उजागर होता है। टीका के छन्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन्होंने और रचनाएं भी की होंगी, जो अभी प्राप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए इनका एक छन्द द्रष्टव्य है :

छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिये बनमाल लसै।

कर कंजहि मंजु रही मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै।

कवि कृष्ण कहै लखि सुन्दर मूरति यों अभिलाष हियै सरसै।

वह नन्दकिशोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझि बसै।।

हठी जी : हठी जी का समय १७८० ई. के आसपास निर्धारित किया गया है। ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कृष्णमक्त कवि थे। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इनका जन्मस्थान चरखारी

३५४ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

माना जाता है। यद्यपि ये कृष्णभक्ति-परम्परा के कवि थे, फिर भी इनकी रचना रीति-चेतना से सम्पृक्त है क्योंकि उसके अन्तर्गत उक्ति-वैचित्र्य, नखशिख-सौन्दर्य-चित्रण और श्रृंगार वर्णन की रीति-परम्परा का पूरा अनुगमन है। इसीलिए इनको रीतिबद्ध परम्परा में स्थान देना उचित है। इनका एक ही प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जो 'श्रीराधासुधाशतक' नाम से है। इसके अन्तर्गत १०३ छन्द हैं। यद्यपि भाव की मार्मिकता और नवीन उद्भावना इनकी रचना में विशेष नहीं मिलती, परन्तु राधा के वर्णन में राजसी ठाट-बाट और विलास का चित्रण भरपूर है। जिस प्रकार इनके छन्दों में विलास और सम्पन्नता का वर्णन है, उसी प्रकार इनकी कविता में अलंकृति है और विशेष रूप से उपमा और उत्प्रेक्षा-जैसे सादृश्यमूलक अलंकार विपुलता से मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य हैं :

केसर से अंग पट केसर के रंग जगे मोती गुहौ गंग है अनंग हूँ की बालिका ।
रम्भा सी रमा सी मेनका सी मंजुघोषा सम सची सी उमा सी सुखमा सी जोति जालिका ।
सांझ समै आन वृषभानु की कुमारी राधा ठाढ़ी दरवाजे 'हठी' प्रानन की पालिका ।
भाग भरे नैनन निहारौ नन्दलाल चलि रैन गुजरी सी उजरी सी दीपमालिका ।।

उपर्युक्त छन्द से हठी जी की अलंकारप्रियता और चमक-दमक में रुचि स्पष्ट होती है। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार भी स्पष्ट है।

विक्रमादित्य : विक्रमादित्य या विक्रमसिंह बुन्देलखण्ड-स्थित चरखारी के राजा थे। इनका राज्य-काल १७८२ से १८२९ ई. तक रहा। ये बड़े साहित्य-प्रेमी, कवि और गुण-ग्राहक व्यक्ति थे। कवियों का ये बड़ा सम्मान करते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य प्रतापसाहि इनके संरक्षण में रहे। इन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। 'बिहारी सतसई' के समान इन्होंने 'विक्रम सतसई' की रचना की। 'सतसई' के अतिरिक्त इन्होंने 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया तथा 'ब्रजलीला' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यद्यपि 'बिहारी सतसई' के समकक्ष इनकी रचना नहीं पहुँच पाती, फिर भी कुछ छन्द अच्छे बन पड़े हैं। अधिकांश छन्दों से लगता है कि बिहारी के भावों को ही इन्होंने अपने शब्दों में रखा है। विक्रम कवि के कुछ दोहे इस प्रकार हैं :

हरित पीत अंकुर बसन, नव लतानि के हार।

जनु अषाढ़ कीन्ही मही, दुलही की शृंगार।।

पंकज के धोखे मधुप, कियो केंतकी संग।

अन्ध भयो कंटक बिंध्यो, भयो मनोरथ भंग।।

रामसहाय : रामसहायदास चौबेपुर (बनारस) के निवासी थे। इनके पिता का नाम भवानीदास था। ये जाति के अस्थाना कायस्थ थे। रामसहायदास काशी-नरेश महाराजा उदितनारायणसिंह के आश्रित कवि थे। अपनी कविताओं में इन्होंने 'भगत' उपनाम रखा है। इनका कविता-काल १८०३ से १८२३ ई. तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं—'राम सतसई', 'वाणीभूषण', 'वृत्ततरंगिणी' तथा 'ककहरा'। 'वाणीभूषण' में इन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन किया है, 'वृत्ततरंगिणी' में छन्दों का परिचय है और 'ककहरा' 'अखरावट' के ढंग का ग्रन्थ है। 'राम सतसई' रीतिकालीन शृंगार-परम्परा का उत्तम ग्रन्थ है, जिसे 'बिहारी सतसई' के समान

उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल : : ३५५

उत्कृष्ट कहा जा सकता है। नखशिख, अलंकार, ध्वनि, रस आदि को ध्यान में रखकर उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव का इसमें समावेश किया गया है। शब्द-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य तथा विभिन्न अनुभावों और हाव-भावों के चित्रण में रामसहाय काफी सफल हैं। भावों का भी मार्मिक वर्णन हुआ है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से सम्पन्न 'राम सतसई' बड़ी सुन्दर रचना है। इसका प्रमाण निम्नलिखित छन्दों से स्वतः मिल जायेगा :

वृन्दावन विहरत फिरै, राधा नन्दकिशोर।
नीरद दामिनि जानि संग, बोलै डोलै भोर॥
किहि बिधि जाउं बसंत में, विकसित बेलि निकुंज।
मो मुख लखि चहुं ओर तें, झुकत झंपत अलि पुंज।
सीस झरोखे डारिके, झांकी घूंघट टारि।
कैबर सी कसके हियैं, बांकी चितवनि नारि॥

पजनेस : पजनेस का समय १८१५ ई. के आसपास है। इनका जन्म पन्ना में हुआ था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इन्होंने 'नखशिख' और 'मधुरप्रिया' नामक दो ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु ये उपलब्ध नहीं हैं। भारतजीवन प्रेस से 'पजनेस-प्रकाश' नामक संग्रह अवश्य प्रकाशित हुआ है। इनके छन्दों से यह स्पष्ट है कि इन्होंने रीति-परम्परा के अनुसार रचना की है। इनका नखशिख-वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इस प्रसंग में मुख-वर्णन सम्बन्धी यह छन्द द्रष्टव्य है :

चितवत जाकी ओर चख चकि चौंध कौंधे,
पनि पजनेस मातु किरन खरी सी है।
छबि प्रतिबिम्ब छूट्यो छिति ह्वै छपाकर तें,
छाजत छबीली राजै कनक छरी सी है।
कीनौ डर लुरक गुलाब को प्रसूत ग्रास,
झुकि झुके झूमि झूमि झांकत परी सी है।
आनन अमल अरबिन्द ते अमल अति,
अद्भुत अमूल आभा उफनि परी सी है॥

पजनेस की रचना में अनुप्रास का प्रयोग अधिक है, पर भाषा बहुत परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों पर, इन्होंने फ़ारसी के शब्दों का स्वच्छन्दता के साथ प्रयोग किया है। कल्पना की नवीन उद्भावना तथा अलंकारप्रियता ही इनके काव्य-गुण कहे जा सकते हैं।

बेनी वाजपेयी : बेनी नाम से तीन कवि मिलते हैं—एक बेनी भंडौआकार, दूसरे बेनी प्रबीन और तीसरे बेनी वाजपेयी। प्रस्तुत बेनी कवि असनी के निवासी बेनी वाजपेयी थे। इनको कई इतिहासकारों ने बेनी बन्दीजन कहा है, परन्तु यह भ्रामक है। ये असनी के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका समय सन् १८२३ माना जाता है, जिसका प्रमाण लीलाजी-कृत 'अश्वनी चरित्र' में मिलता है। बेनी कवि के जीवन के सम्बन्ध में और अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती। इनके फुटकर छन्द ही मिलते हैं। जिनसे स्पष्ट होता है कि इन पर रीति-परम्परा का प्रभाव था। नखशिख और षड्भुज सम्बन्धी इनके अनेक छन्द प्राप्त होते हैं। आलंकारिक चमत्कार इनकी विशेषता है। ये रसिक कवि थे

३५६ : : हिन्दी-साहित्य का इतिहास

और उक्ति-वैचित्र्य इनकी रचना में प्रभूत रूप से प्राप्त होता है। राधा को चोर बनाने का एक उक्ति-चमत्कारपूर्ण छन्द निम्नलिखित है :

करि की चुराई चाल सिंह की चुराई लंक,
ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हांसी गूजरी गंभीर की।।
कहै कवि 'बेनी' बेनी व्याल की चुराइ लीनी,
रती रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चित्त हू चुराइ लीनो,
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की।।

उक्ति-चमत्कार के साथ-साथ बेनी की रचना में मुहावरों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा टकसाली है। छन्द और गति का बड़ा सूक्ष्म विवेक इनके छन्दों से स्पष्ट होता है। यमक की छटावाले अनेक छन्द इनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। बेनी कवि ने गोस्वामी तुलसीदास की भी बड़ी प्रशंसा की है और अनेक छन्दों में नैति की बातें भी कही हैं; पर इनके ऋतु-वर्णन के छन्द विशेष प्रभावशाली हैं। वैसे, इनकी मूल प्रकृति शृंगार-चित्रण की ही है। इसीलिए जो कुछ छन्द भक्ति सम्बन्धी मिलते हैं, उन पर भी शृंगार का प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि इनका सम्बन्ध किसी भक्ति-सम्प्रदाय से था, पर इन्होंने राधा-कृष्ण की वन्दना की है जिससे जान

पड़ता है कि ये राधा-कृष्ण के उपासक थे। राधा-कृष्ण विषयक इनके इस छन्द को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी सम्पादित रचना 'सुन्दरी-तिलक' के मंगलाचरण के रूप में दिया है :

छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुक्ता थहरै।
फहरै पियरो पट बेनी इतै उनकी चूनरी के झबा झलरै।
रसरंग भिदें अभिदे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहै लहरै।
नित ऐसे सों राधिका श्याम हमारे हिये में सदा बिहरै॥

बेनी कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था और काव्यशास्त्र का समुचित प्रभाव भी इनकी रचनाओं में स्पष्ट है।

रीतिमुक्त काव्य

प्रवृत्ति का नाम

इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो 'रीतिमुक्त' और कुछ ने स्वच्छन्द काव्यधारा' किया है। 'रीतिमुक्त' का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति-परम्परा के साहित्यिक बन्धनों और रुढ़ियों से मुक्त है। यह शब्द स्पष्टतः इस धारा की दूसरी समसामयिक काव्य-प्रवृत्ति से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। 'रीतिमुक्त' नामकरण विवाद-रहित और निरापद है। पर दूसरा नाम विवेचन की अपेक्षा रखता है; क्योंकि यही शब्द पश्चिमी साहित्य की एक प्रसिद्ध महती काव्यधारा के लिए रुढ़ है। तो क्या रीतिकाल की यह काव्यधारा किसी प्रकार यूरोप की स्वच्छन्द काव्यधारा से सम्बद्ध है? लेकिन

सम्बन्ध के लिए जो ऐतिहासिक आधार चाहिए, वे यहां नाम को भी नहीं हैं। फिर क्या इन दोनों में किसी प्रकार की उल्लेखनीय समानताएं हैं? यहां यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल की एक अन्य काव्यधारा को भी 'स्वच्छन्द काव्यधारा' कहा है जिसमें श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिवंशराय 'बच्चन' आदि को गिनाया है। ये सभी अपने समय की प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को त्यागकर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करनेवाले थे। किसी ने प्रकृति के मुक्त रूप को काव्य का विषय बनाया, तो दूसरों ने छायावादी सम्प्रदाय से अपनी काव्य-कला को अप्रभावित रखा। इसलिए शुक्ला जी की दृष्टि में ये सभी कवि स्वच्छन्दतावादी थे। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में 'स्वच्छन्दतावादी' शब्द परम्पराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है—यूरोपीय काव्यधारा की समानता अथवा प्रभाव के अर्थ में नहीं। इसीलिए हम छायावादी साहित्य को भी 'स्वच्छन्द काव्यधारा' कह लेते हैं, क्योंकि उसमें भी प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं का त्याग है। फलतः घनानन्दवाली रीतिकालीन काव्यधारा को 'स्वच्छन्द काव्यधारा' कहना अनुचित नहीं है।

परिभाषा और परिधि

अंगरेजी-साहित्य में रोमांटिक (स्वच्छन्द) और क्लासिकल (शास्त्रीय) काव्यधाराएं अपने विशिष्ट इतिहास और परिस्थितियों के कारण विशिष्ट अर्थों में रुढ़ हो गयी हैं। विद्वानों ने बड़े विस्तार से विविध प्रकार के ऊहापोह उन पर किये हैं। हिन्दी के समीक्षा-साहित्य में भी यह उसी चिन्तन-शैली का प्रभाव है, जो हम किसी काव्यधारा को नियमबद्ध और दूसरी को मुक्त समझते हैं। पश्चिम में 'स्वच्छन्द काव्यधारा' शृंगारिकता, साहसिकता, काल्पनिकता, भावप्रधानता, अनगढ़पन, सहजता आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध है। वस्तुतः ये उक्त धारा के गुण हैं, लक्षण नहीं। लक्षण तो—जैसा 'स्वच्छन्द' शब्द से व्यक्त होता है—नियममुक्तता, रुढ़िमुक्तता आदि हैं। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भांति कला के क्षेत्र भी नियमों की अनुसर्ता और स्वानुभूति के उन्मुक्त उद्गाता—दो प्रकार के मनीषी प्रवेश करते हैं। प्रथम वर्ग के मनीषी कला की बाह्य रूप-सज्जा, चयन और श्रेष्ठता पर अधिक बल देते हैं, तो दूसरे अनुभूति के आवेगमय रूप की सहज अभिव्यक्ति को महनीय मानते हैं। प्रथम पक्ष की कला-सृष्टि अभ्यास का फल होती है; तो दूसरों की हृदय-निस्सृत अकृत्रिम अभिव्यक्ति। प्रवृत्ति का यह भेद थोड़ी-बहुत मात्रा में सर्वत्र-सर्वदा मिल जाता है। वस्तुतः नियमबद्ध (क्लासिकल) और स्वच्छन्द (रोमांटिक) प्रवृत्तियों का यही मनोवैज्ञानिक मूल है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता अधिक रहती है। इसलिए थोड़ी-बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी उसमें आ जाती है। इस काव्यधारा में रूप-सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दृष्टि रहती है। श्लेमल का कथन है कि क्लासिकल काव्य अपने में पर्यवसित होता है; उसका उतना ही तात्पर्य रहता है जितना शब्द प्रकट करते हैं, पर स्वच्छन्दतावादी काव्य में एक ऐसी विच्छिन्न रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं होने देती और उसकी इयत्ता अधिकाधिक बढ़ा देती है। विक्टर ह्यूगो ने स्वच्छन्दतावादी काव्य को रुढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन इसमें चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डॉ. हेज ने प्रेरणा (जीवन से) को इसका प्राण कहा है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सन्दर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है : "रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से धन-संश्लिष्ट निविड आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्वप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।"४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन के सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोक-साहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पण्डितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भावधारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता (टू रोमांटिसिज़्म) कहना चाहिए।५

कलासिकल प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशंसा इस बात में है कि वह जीवन और जगत् को अपनी प्रतिभा से यथातथ्य ग्रहण करे और इन्हें प्रभविष्णु अभिव्यक्ति प्रदान करे। पर रोमांटिक प्रवृत्ति के कवि की श्रेष्ठता इसमें है कि उसकी आत्मा स्फुटित होकर अपनी ऐसी अभिव्यक्ति दे कि वह जादू-जैसा भाव उत्पन्न करे। वास्तव में स्वच्छन्दतावाद का मूल कलाकार की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में रहता है। इसका न काल से सम्बन्ध है और न देश से। नियमों की रूढ़ियों और अपरिवर्तन से ऊबे हुए उत्साही कलाकार क्रान्ति मचाने लगते हैं। इसी का साहित्यिक नाम 'स्वच्छन्द धारा' हो जाता है। स्वच्छन्दता की अति जब उच्छृंखलता में परिणत होने लगती है, तो उसकी सीमा बांधना आवश्यक हो जाता है। सीमाओं का बन्धन और अनुवर्तन ही कलासिकल मार्ग है। इस प्रकार कलासिकल और रोमांटिक प्रवृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया साहित्यिक इतिहास में चलती रहती है।

स्वच्छन्द प्रवृत्ति का कवि अन्तर्मुखी होता है। उसे अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास रहता है—अनुभूति की इन्द्रियानुभूति नहीं, हृदयानुभूति। संसार का अनुभव करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा अपना अनुभव करनेवाला व्यक्ति उसकी दृष्टि में अधिक सच्चा और प्रामाणिक है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य में अभिनवत्व (ताजगी) रहता है क्योंकि उसकी प्रेरणा जीवन से मिलती है। जब साहित्य अपने समवर्ती जीवन से प्रेरणा न लेकर पूर्ववर्ती साहित्य से प्रेरणा लेने लगता है तब वह क्लासिकल बन जाता है, उसकी अभिनवता क्षीण होने लगती है। संक्षेप में, स्वच्छन्दतावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं ये हैं :

१. यह आन्तरिक अनुभूतियों का काव्य होता है, फलतः इसमें भावावेग का उच्छल प्रवाह बहता है।
२. यह मूलतः आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है अर्थात् कवि बाह्य जगत् को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना अपने को देता है।
३. यह सब प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त होता है, इसलिए इसमें अभिनवत्व और अद्भुतता के तत्त्व निहित रहते हैं।
४. अभिव्यंजना में यह सांकेतिक और व्यंजनाप्रधान होता है, इसीलिए कहीं-कहीं रहस्यात्मकता का पुट भी इसमें आ जाता है।
५. इसमें कल्पना और असाधारणता का प्राचुर्य रहता है।

६. यह भावप्रधान अधिक और रूपप्रधान कम होता है। कवि की प्रवृत्ति अपने हृदय के पत खोलने की अधिक होती है, अपनी उक्ति को सजाने-संवारने की कम।

रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव का योगदान मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ इन कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

घनानन्द : घनानन्द स्वच्छन्द काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस धारा के प्रायः सभी गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं, जैसे—भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छन्दता आदि। इनकी दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः लौकिक शृंगार और भक्ति से है। प्रथम वर्ग की रचनाएं प्रायः कवित्त सवैयाओं में रचित हैं और दूसरे वर्ग की पदों एवं दोहे-चौपाइयों में। अब तक प्राप्त कवित्त-सवैयाओं की संख्या ७५२, पदों की संख्या १०५७ और दोहे-चौपाइयों की २३५४ है। काव्य-सौन्दर्य के अतिरिक्त रचना-विस्तार की दृष्टि से भी घनानन्द महाकवियों में गिने जाने योग्य हैं। इनके काव्य में ऋजु और वक्र दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग मिलता है, जो भाव के अनुरोध से कहीं संश्लिष्ट और कहीं विश्लिष्ट हो गयी है। इनके वर्ण्य विषय में विविधता और विस्तार नहीं है, अपितु कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण विविधता भावों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों में मिलती है। भाव कवि के व्यक्तिगत अतएव स्वच्छन्द हैं, काव्य-परम्परा के नहीं। विषय के समान भावों में भी कहीं-कहीं आवृत्ति के दर्शन होते हैं। भावों में विषाद और निराशा का प्राचुर्य है। कवि प्रेम की पराजय में भी अडिग है, अतएव उसे विजयी कहा जायेगा। यह विषाद उसके अभिलाषातिरेक का परिणाम है। प्रेम के हर्षावसरों पर बढ़ती हुई

जायेगा। यह विषाद उसके अभिलाषातिरक का परिणाम है। प्रेम का हृषावसरा पर बढ़ता हुई अभिलाषाएं उसे बेचैन बना देती हैं। उसके भाग्य में प्रेम का हर्ष बढ़ा ही नहीं है। प्रेम की यह विषादमयी अनुभूति हिन्दी-साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल और फारसी-परम्परा के अनुकूल है। घनानन्द के समकक्ष फारसी के अनेक कवियों में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। तत्कालीन समाज की हीन दशा और उसमें व्यक्ति की परवशता के अनुभव का भी यह परिणाम हो सकता है।

काव्य-शैली में वर्ण्य का उपयोग दो प्रकार से हो सकता है—भाव-लपेटी वस्तु का स्वरूप खड़ा करके या फिर वस्तु से उठे भावों का सीधा वर्णन करके। रस-सिद्धों की भाषा में ध्वनि को विभावप्रधान और दूसरे को भावप्रधान कह सकते हैं। हिन्दी-संस्कृत की परम्परा विभावप्रधान रही है, पर घनानन्द ने दूसरा मार्ग अपनाया है अर्थात् भावों का सीधा वर्णन अधिक किया है। इन भावों में रीझ, विषाद, उलझन, अभिलाषा, भूल, उपालम्भ आदि प्रमुख हैं। इन भावों के आश्रय हैं—मन, प्राण, नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियां। ज्ञानेन्द्रियों को भावों का आश्रय बनाकर कवि ने उनका मानवीकरण कर दिया है। इनका काव्य भावों की अन्तर्भूमि पर ही अधिक खड़ा है, वस्तु पर कम। प्रिय के रूप पर रीझने में मन की क्या दशा होती है, इस पर नीचे लिखा सवेया देखिए :

रावरे, रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यों-ज्यों निहारियै।
 त्यों इन आँखिन बानि अनौखी, अघानि कहूं नहि आन तिहारियै।
 एक ही जीव हुतौ सुतौ वार्यौ, सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
 रोकी रहै न दहै घनआनंद बाबरी रीझ के हाथनि हारियै॥

इसी प्रकार वियोग-व्यथा की सैकड़ों अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खींचे हैं, जो हृदय को सीधे छूते हैं। वियोग शृंगार में प्रिय के रहने पर प्रेमी का भावमग्न हो जाना स्वाभाविक है, ५

घनानन्द संयोग में भी भावमग्न हैं। भावात्मकता के कारण ही अनुभूति का सम्बन्ध जब सशरीर प्रिय से हटकर अनुभूत्यात्मक हो जाता है, तो उसका सम्बन्ध परम सत्ता से बना प्रतीत होने लगता है। ऐसी उक्तियाँ अनेक हैं, जिनमें से निम्नलिखित सबैसा द्रष्टव्य है :

मन जैसे कछु तुम्हें चाहत है, सो बखानियै कैसें सुजान ही हौं।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगिये नित लौं।।
बुधि औ सुधि नैननि बैननि में, करि बास निरन्तर अन्तर गौ।
उघरौ जग छाये रहे घनआनंद, चातिक लौं तकियै अब तौ।।

यहां प्रेम का विषय सांसारिक प्राणी भी हो सकता है और परमेश्वर भी। ऐसी उक्तियों में रहस्यात्मकता की स्पष्ट झलक मिलती है। घनानन्द के प्रेम का उदय अवश्य सुजान के शरीर से हुआ था, पर उसकी परिणति सुजान (सु + ज्ञान) परमेश्वर में हुई थी। उनकी शैली उत्तम पुरुष-प्रधान आत्मनिवेदन की है, प्रेम की अनुभूतियों को इन्होंने अपनी बनाकर प्रस्तुत किया है। अपनी रचना-प्रक्रिया का संकेत करते हुए कवि ने स्पष्ट कहा है कि उसे काव्य की प्रेरणा प्रेयसी सुजान के मादक रूप से मिलती है, उसी को वह काव्य के रूप में उपस्थित कर देता है।^६ इस प्रकार के संकेतों से अनुमान होता है कि कवि का काव्य उसकी स्वयं की प्रेमानुभूति है। रीतिकाल के लिए यह नवीन प्रणाली है, अन्य कवियों ने तो नायक-नायिकाओं अर्थात् पात्रों की योजना द्वारा अपने भाव व्यक्त किये हैं। इसीलिए डॉ. नगेन्द्र-जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचक रीतिकालीन कविता में दमित भावना की मनोग्रन्थि का एहसास लें, तो वह अनुचित नहीं है। किन्तु घनानन्द ने तो अपने ही को निश्छल अभिव्यक्ति प्रदान की, अतः वह दोष इनकी कविता में नहीं है। सुजान का रूप-वर्णन भी इन्होंने अपनी लालसा भरी आंखों से देखकर ही किया है। लौकिक शृंगार के क्षेत्र में यह साहस घनानन्द ने ही किया। नीचे लिखे सबैये में प्रेमी कवि अपनी वियोग-दशा बताता है :

अंक भरौं चकि चौंकि परों कबहूक लरौं छिन ही में मनाऊं।
देखि रहौं अनदेखे दहौं सुख सोच सहौं, जु लहौं सुनि पाऊं।
जान तिहारी सो मेरी दसा, यह को समझै अरु काहि सुनाऊं।
यौं घनआनंद रैन-दिना नहि बीतत, जानियै कैसे विहाऊं॥

घनानन्द के काव्य की एक विशेषता भावजन्य वक्रता है। कवि के भाव असाधारण हैं, उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए असाधारण भाषा का प्रयोग ही एकमात्र उपाय है। ऐसा लगता है कि भावों का जन्म ही इस प्रकार की वक्र भाषा में हुआ है। इस प्रकार लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करना उनकी शैली है जिसके परिणामस्वरूप उसमें विरोध और वक्रता, ये दो गुण आ गये हैं। इनके कारण निःसन्देह शैली में सरलता नहीं रही है, पर मार्मिकता और चमत्कार पद-पद पर अनुभूत होते हैं। वस्तुतः प्रेम की पीड़ा को कवि ने सच्चे हृदय से अपनी पूर्णता में भोगा था, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति सटीक और मार्मिक हुई है। जहां कवि अपेक्षाकृत अधिक भावुक रहा है, वहां वह वक्र शैली को भूल गया है। फिर भी उनकी शैली का सर्वाधिक उल्लेखनीय गुण भाषा का लाक्षणिक प्रयोग है। भावों की जो सूक्ष्म अन्तर्दशाएं कवि को अनुभूत हैं और रूप आदि के विषय में विलक्षण चिन्तन उसे प्राप्त है, उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में प्रचलित भाषा से नहीं हो सकती थी। इसलिए घनानन्द ने लक्षणा का मार्ग अपनाया। मुहावरे भी प्रायः लक्षणा के रूढ़ प्रयोग होते हैं, अतः इनकी भाषा में

उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल (संवत् 1700-1900)

प्रकरण 1

सामान्य परिचय

हिन्दी काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् 1598 में कृपाराम चौड़ा मिश्र ने 'भृंगारसागर', नामक एक ग्रंथ भृंगारसबन्धी लिखा। नरहरि कवि के साथी कवि ने 'कर्णाभरण', श्रुतिभूषण और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंग का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिन्दी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः 50 वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

केशव के प्रसंग में यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य के विकासक्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की भीमांसा क्रमशः बढ़ते बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी, उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्यांगनिरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय से अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था; रस, रीति, अलंकार आदि सबके लिए 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद करके 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य-विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं।

पर केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के 50 वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए

रस रीति अलंकार

① रस

② रीति

③ अलंकार

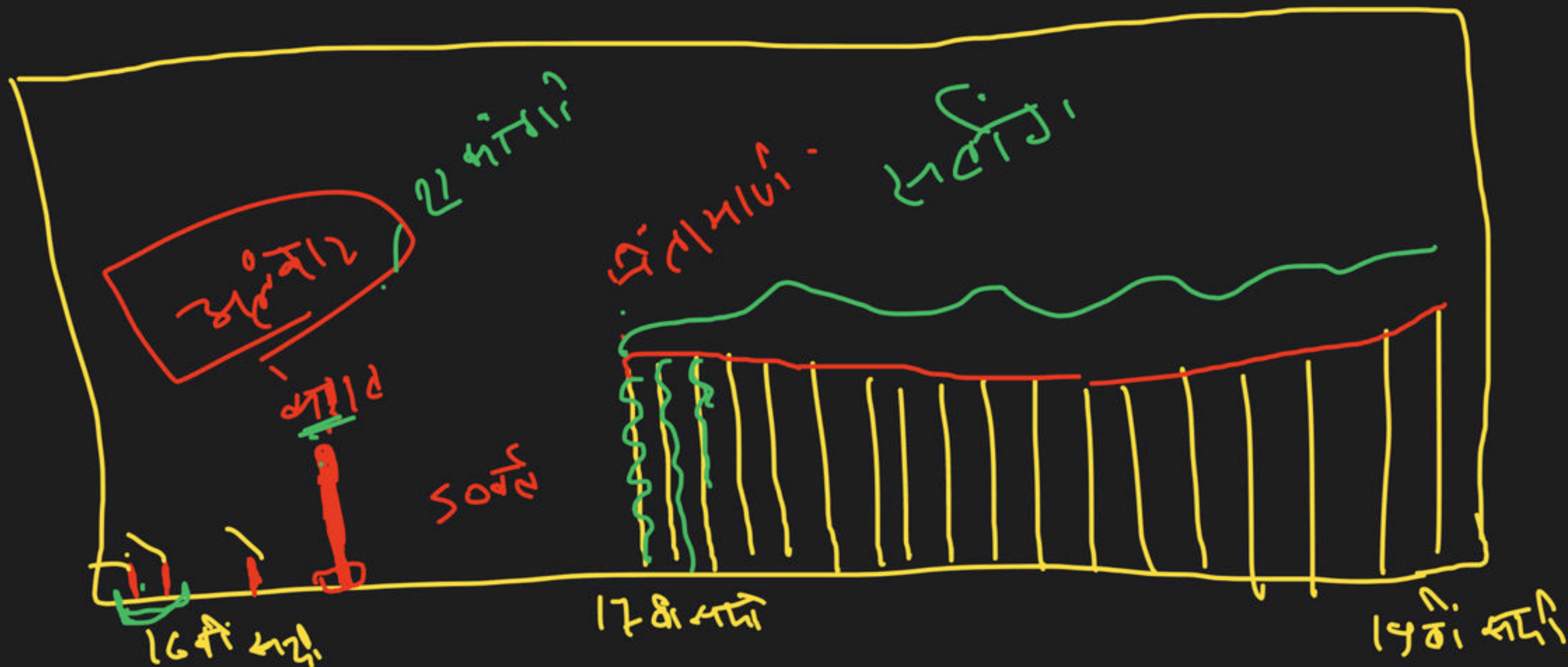
↓

सामान्य

विशेष

अलंकार

ਯੋਗ ੨



हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार अलंकार्य का भेद हो गया था। हिन्दी के अलंकारग्रंथ अधिकतर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार दैवयोग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।

हिन्दी रीतिग्रंथों की परंपरा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने संवत् 1700 के कुछ आगे पीछे 'काव्यविवेक', 'कविकुलकल्पतरु' और 'काव्यप्रकाश' ये तीन ग्रंथ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छंदशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके उपरान्त तो लक्षणग्रंथों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिन्दी साहित्य में यह अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन या पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन मंडन, नए नए सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क वितर्क हो नहीं सकता। इस अवस्था में 'चंद्रालोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुड़ी ली।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में लक्षणग्रंथ की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्य के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं। बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शब्दशक्ति' का विषय तो दो ही चार कवियों ने नाममात्र के लिए लिया है जिससे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहीं कहीं भ्रांत धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणतः

दो भेद किए जाते हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया। सारांश यह कि इन रीतियों पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय की रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई नई बातों की उद्भावना होती रही।

कहाँ कहाँ से ली। आगे होने वाले लक्षण ग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं जो कहीं कहीं अपर्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस क्षेत्र में। काव्यांगों का विस्तृत समावेश दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में किया है। अलंकारों को जिस प्रकार उन्होंने बहुत से छोटे छोटे प्रकरणों में बाँटकर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव में उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया है। दासजी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत काव्य में अंत्यानुप्रास या तुक का चलन नहीं था, इससे संस्कृत के साहित्यग्रंथों में उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिन्दी काव्य में वह बराबर आरंभ से ही मिलता है। अतः दासजी ने अपनी पुस्तक में उसका विचार करके बड़ा ही आवश्यक कार्य किया।

भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है, पर वास्तव में संस्कृत ग्रंथों के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्धित रूप है। 'भाविक' का संबंध कालगत दूरी से है; इसका देशगत से। बस इतना ही अंतर है।

दासजी के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़नेवाले भेदों में से चार तो भेदों के भिन्न भिन्न यांग हैं। पाँचवाँ 'संभावनातिशयोक्ति' तो संबंधातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियों के बीच छल बढ़ा देना कुछ लोगों को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बातें संस्कृत की 'रसतरंगिणी' से ली हैं वैसे ही यह 'छल' भी। सच पूछिए तो छल का अंतर्भाव अवहित्वा में हो जाता है।

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि हिन्दी के पद्यबद्ध लक्षणग्रंथों में दिए हुए लक्षणों और उदाहरणों में बहुत जगह गड़बड़ी पाई जाती है। अब इस गड़बड़ी के संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं। या तो यह कहें कि कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिए जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझकर। मतभेद तो तब कहा जाता जब कहीं कोई नूतन विचारपद्धति मिलती। अतः दूसरा कारण ही ठहरता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा—

1. केशवदास ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक रूपक। इनमें से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त नहीं करता और उदाहरण भी अधिकतापूर्ण रूपक का हो गया है। विरुद्ध रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक रूपक दंडी के अनुसार वही होता है जहाँ प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप करके फिर दूसरे अप्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण से यह बात प्रकट होती है, न उदाहरण से। उदाहरण में दंडी के उदाहरण का ऊपरी दौंचा भर झलकता है, पर असल बात का पता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिन्दी में दे दिए गए हैं।

2. भूषण क्या, प्रायः सब हिन्दी कवियों ने 'भ्रम', 'सदिह' और 'स्मरण' अलंकारों के लक्षणों में सादृश की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलंकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भूषण का उदाहरण सबसे गड़बड़ है।

3. शब्दशक्ति का विषय दास ने थोड़ा सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षण' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि इस लक्षण का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है।

जबकि काव्यांगों का स्वतंत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते? संस्कृत साहित्य में जैसे अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, यक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिए हिन्दी के रीतिक्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरांत रीतिकाल में होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले। महाराज जसवंत सिंह ने अपने 'भाषाभूषण' की रचना 'चंद्रालोक' के आधार पर की, पर उसके अलंकार की अनिवार्यता वाले सिद्धांत का समावेश नहीं किया।

इन रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगाररस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणों से चुनकर इकट्ठा करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तक रचना हिन्दी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्य में हुआ कि इसके एक एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों

ने नायिकाभेद के भीतर दिखाया। रसग्रंथ वास्तव में नायिकाभेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिए गए हैं। नायिका भृंगाररस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नख शिख वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट् क्रतुवर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलंभ संबंधी 'वारहमासा' भी कुछ कवियों ने लिखे।

रीतिग्रंथों की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बंधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषाशैली, पदविन्यास, अलंकारविधान आदि बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें, तो दिखा सकें, पर उनकी आभ्यंतर प्रवृत्ति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्चकोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।

रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता तो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्यदोषों का पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं, जिनकी वाक्यरचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है।² यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण ब्रज और अवधी इन दोनों काव्यभाषाओं का कवि के [की] इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती, पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की ब्रजभाषा के संबंध में भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा में यत्र तत्र पूरबी प्रयोग, जैसे—मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी 'कीन', 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीतिग्रंथों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल में काव्य

की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टिपात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन में वे कहते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ॥
मिल संस्कृत पारस्यौ पे अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज भागधी मिले अमर, नाग यवन भाखानि॥
सहज पारसी हू मिले, घट विधि कहत बखानि॥

उक्त दोहों में 'भागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्धभागधी से निकली मानी जाती है और पूरबी हिन्दी के अंतर्गत है। जबौदानी के लिए ब्रज का निवास आवश्यक नहीं है, आप्त कवियों की वाणी भी प्रमाण है, इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा है—

सूर, केशव, मंडन, विहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए॥
लीलावर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहौ लौ बखानिए॥
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे-ऐसे कविन की बानी हू सौ जानिए॥

मिलीजुली भाषा के प्रमाण में दासजी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

शेखरदास

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ लें कि तुलसी और गंग इसीलिए कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उनकी समझ को क्या कहा जाय?

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई 100 वर्षों की काव्यपरंपरा के पर्यालोचन के उपरांत। अतः उनका स्वरूप निरूपण तो बहुत ठीक है। उन्होंने काव्यभाषा ब्रजभाषा ही कही है जिसमें और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौंदर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना'

'करियों', 'कीन' यहाँ तक कि 'किये' तक रखने लग। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को यह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई विदेशी काव्य की प्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनाई होगी।

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था में ही किस प्रकार मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे, इसका उल्लेख हो चुका है। इत्ताति, उमरदराज आदि काल में शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य का व्यवहार ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अतः वे भी दरबार में खड़े होकर 'उमरदराज महाराज तेरी चाहिए' पुकारने लगे। 'थख्त', 'बलंद' आदि शब्द उनकी जवान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियों ने अपनाना आरंभ किया। रीतिकाल में ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की सरसता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत ही कम स्थान दिया। परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास रखनेवाले साधारण कवियों ने कहीं कहीं बड़े बड़े तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दों को देखकर शिक्षितों को एक प्रकार की विरक्ति भी होता है और उनकी कविता गैयारों की रचना सी लगती है। शब्दों के साथ साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रसनिधि-कृत 'रतनहजारा' में यह बात अरुचिकर मात्रा में पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे हैं, पर उन्होंने उन भावों को अपने देशी साँचे में ढाल लिया है जिससे वे खटकते क्या सहसा लक्ष्य भी नहीं होते। उनकी विरहताप की अत्युक्तियों में दूर की सृज और नाजुक खयाली बहुत कुछ फारसी की शैली की है। पर बिहारी रसभंग करने वाले बीभत्स रूप कहीं नहीं लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैये ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनों

रसों के लिए समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव में पढ़ने के ढंग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमें दोनों के अनुकूल नादसौंदर्य पाया जाता है। सवैया, शृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के लिए बहुत उपयुक्त होता है, यद्यपि वीररस की कविता में भी इसका व्यवहार कवियों ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

संदर्भ

1. विशेष, दे. केशवदास।
2. देखो, अगले प्रकरण में भूषण का परिचय।

रीतिकाल में प्राकृत-अपभ्रंश की शुद्ध इहलौकिक काव्य-धारा फिर प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती जैसी मनोहारी सामान्य गृहस्थ जीवन की शृंगारिक रचनाओं की परंपरा रीतिकालीन रचनाओं में भरपूर मिलती है। इनमें लोक-जीवन में व्याप्त पारिवारिक प्रेम, मिलन, विरह आदि की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। रीतिकाल ऐसे सरस मुक्तकों की दृष्टि से हिंदी का सर्वाधिक संपन्न काल है।

इस काल में साथ-ही-साथ भक्ति काव्य भी रचा जाता रहा। अक्सर रीतिकालीन भक्ति काव्य में पूर्व मध्यकालीन भक्ति काव्य की अग्नि लगी। वह भी दरबारीपन से धूमिल है। इसमें कबीर, सूर, जायसी, तुलसी की व्याख्या ढूँढ़ने पर आपको निराश होना पड़ेगा।

इस काल की कविता का परम उत्कर्ष प्रेम के रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है। ये कवि 'प्रेम की पीर' के कवि हैं और इनका विरह-भावना सूफ़ी कवियों जैसी है। घनानंद, आलम, बोधा ठाकुर इसी धारा के कवि हैं।

रीतिकालीन काव्य को तीन धाराओं में बाँटा जाता है—

1. **रीतिबद्ध धारा**— इस धारा के कवियों ने अलंकार, नायिका-पद, पद्याकर, मतिराम आदि। ये लक्षण-ग्रंथकार मूलतः कवि थे।
2. **रीतिसिद्ध धारा**— इस धारा के कवि लक्षण-उदाहरण की पद्धति नहीं अपनाते, किंतु रचना करते समय लक्षणों का ध्यान अवश्य रखते हैं। बिहारी ऐसे ही कवि हैं।
3. **रीतिमुक्त धारा**— इस धारा के कवि लक्षण-उदाहरण की न तो पद्धति अपनाते हैं, न ही लक्षणों का ध्यान रखते हैं। ये प्रेम के, विशेषतः प्रेम के उन्मत्त गायक कवि हैं। घनानंद, आलम, बोधा ठाकुर इसी रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा के कवि हैं। ये कवि स्वाभिमानहीन हैं। इनमें रीतिबद्धता और दरबारीपन के प्रति विद्रोह का भाव है। इस धारा की प्रमुख काव्यभाषा ब्रज है। कवित्त, सवैया, दोहा आदि प्रमुख हैं। रीतिकालीन कविता के दरबारीपन पर फ़ारसी काव्य का प्रभाव प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। दरबारी कविता प्रधानतः मुक्तकों की और अलंकार-बहुल है।

शिव कवि नामक एक अज्ञातप्राय कवि ने कहा है—

लच्छमी तिहारी एक कृपा के कटाच्छ बिनु,
केते कूर धूरतन के बदन ध्याइवे परे।
झूठे महिपालन के झूठे गुन गाइ-गाइ,
बानी जगरानी तासों बैर छानिबे परे।
कहैं सिवकवि दाता सूम को बखानियत,
रन तै बिमुख सूर ठहराइवे परे।
काहु के न धंधन के निज पेट धंधन के,
दौलत के मदंधन के छिग जाइवे परे।

रीतिकाल के प्रमुख कवियों का परिचय

केशवदास (1555-1617)

केशवदास का जन्म 1555 में और मृत्यु 1617 में हुई। इनके पूर्वज संस्कृत के विद्वान थे। ये ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह के सभा-कवि थे। यहाँ इनका बहुत सम्मान था। केशवदास द्वारा रचित सात ग्रंथ मिलते हैं— कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंह चरित, विज्ञान गीता, रतन बावनी और जहाँगीर-जस चंद्रिका। कविप्रिया और रसिकप्रिया काव्यशास्त्रीय पुस्तकें हैं। कहा जाता है कि कविप्रिया की रचना महाराजा इंद्रसिंह की पतिव्रता गणिका रायप्रवीण को शिक्षा देने के लिए हुई थी।

केशवदास का उल्लेख राम-भक्ति शाखा के प्रसंग में हो चुका है। उन्होंने 'रामकथा' का वर्णन रामचंद्रिका में किया है। किंतु छंदों की विविधता, अलंकारों की बहुलता एवं चमत्कार-प्रियता के कारण उसे भक्ति साहित्य की कोटि में रखना उचित नहीं जान पड़ता। केशव का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने पहली बार संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित काव्यांगों पर हिंदी में विचार किया। इसके पूर्व कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, करनेस आदि ने रस, शृंगार और अलंकार पर अलग-अलग पुस्तकें लिखी थीं, पर एक साथ सभी काव्यांगों का परिचय नहीं दिया था। केशव ने यही किया और इसीलिए वे हिंदी के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे काव्य में अलंकार को अधिक महत्त्व देते थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट आदि रसवादी आचार्यों का अनुकरण करके भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों का अनुकरण किया। केशव ने जो काव्य विवेचन किया है उसमें मौलिकता नहीं है, वह संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों का अनुकरण है।

केशवदास की रचनाओं में काव्य की दृष्टि से सर्वाधिक विचारणीय रामचंद्रिका है। इसकी रचना केशवदास ने वाल्मीकि के स्वप्न में कहने पर की थी। यह हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव की शैली में रचित है। पृथ्वीराज राघो के समान इसमें छंद जल्दी-जल्दी परिवर्तित होते हैं। रचना नाटकीय संवादों से परिपूर्ण है। एक ही पंक्ति में पात्रों के बीच प्रश्नोत्तर करा देने की शैली में केशवदास निपुण हैं, जैसे भरत-कैकेयी का यह प्रश्नोत्तर—

‘मातु! कहीं नृपताप’? ‘गए सुखलोकहिं, ‘क्यों’? ‘सुत शोक लिए’।

रामचंद्रिका के संवादों की प्रशंसा की गई है। केशवदास दरबारों के वैभव-वातावरण का वर्णन करने में सिद्धहस्त हैं। किंतु कथा-प्रसंगों की समुचित योजना या मार्मिक प्रसंगों की पहचान में प्रायः वे चूक जाते हैं। वाग्विदग्ध अलंकारों, छंदों के ज्ञान के उपयोग की आतुरता और चमत्कार-प्रियता उनके सहृदयता को कुंठित कर देती हैं। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इन कवि-हृदय मिला ही नहीं था। लक्षणों के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत उनके अनेक रचनाएँ सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ हैं।

यद्यपि केशव हिंदी के प्रथम आचार्य हैं, किंतु रीति-ग्रंथों की विरल पंक्ति चिंतामणि (1609) से चली। रीति काव्य की परंपरा के प्रवर्तक केशव हैं चिंतामणि, इसे लेकर विवाद होता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ कविकुल कान्ठ है। इस काल के अन्य प्रसिद्ध आचार्य कवि भीखारीदास (18वीं शती), ग्रंथनाम काव्य-निर्णय; तोष (1634), ग्रंथनाम सुधानिधि; कुलपति (1670), ग्रंथनाम रहस्य; सुखदेव मिश्र (1673), ग्रंथनाम रसार्णव आदि हैं। इनके उपजीव्य संस्कृत ग्रंथ काव्य-प्रकाश, साहित्य दर्पण, रसमंजरी, चंद्रलोक और कुवलयानंद हैं।

सेनापति (1584-1688)

सेनापति का जन्मकाल 1584 है। इनकी रचनाओं से लगता है कि यद्यपि इन कुछ दरबारों में सम्मान हुआ है, किंतु बाद में ये विरक्त हो गए। इनकी दो रचनाएँ हैं—कवित्त रत्नाकर और काव्य कल्पद्रुम। कवित्त रत्नाकर में भक्तिभाव के प्रभाव हैं। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का उपयोग प्रायः उद्दीपन के ही अंतर्गत किया है, किंतु सेनापति इस काल के अकेले कवि हैं जिनका प्रकृति के प्रतीक भाव-बोध इतना सहज है कि आधुनिक-सा लगता है। प्रकृति-चित्रण के विषय में उन्हें इस दृष्टि से श्रीधर पाठक के साथ बैठाया जा सकता है। यह सेनापति की बहुत बड़ी विशेषता है। रामकथा पर इनके अनेक छंद मिलते हैं। एक पंक्ति

में इन्होंने शरदपूर्णिमा की चंद्रज्योत्स्ना की उपमा रामचंद्र के यश से दी है— राम के सौं जस अध-ऊरध गगन है। ऋतुवर्णन में इनका सादृश्य-विधान मौलिक है। वर्षा का यह वर्णन देखिए—
 देखावि उनए नए जलद सावन के

सेनापति उन्हें नए जलद साबन के
चारिह दिसान धुभरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भाति
आने है पहार मानौ काजर कै होय कै।
घन सो गगन छप्यो तिमिर सघन भयो
देखि न परत मनो रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि
मेरे जानि याही तैं रहत हरि सोय कै।

रीति सिद्ध कवि

बिहारी (1606-1663)

बिहारी का जन्म सन् 1606 के लगभग हुआ। शुक्ल जी का अनुमान है कि वे 1663 तक विद्यमान रहे। बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कवि हैं। वे रीति काव्य के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। उन्होंने काव्यांग निरूपण नहीं किया है, किंतु उनकी रचना में काव्य रीति रची-बसी है। वे जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे। वहाँ उनका काफ़ी सम्मान था।

बिहारी के यश का आधार सतसई है। इतना कम लिखकर इतना अधिक यश कम साहित्यकारों को मिला होगा। बिहारी सतसई की लोकप्रियता का यह हाल है कि इनकी पचासों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। और यह काम अभी बंद नहीं हुआ है। बिहारी मूलतः शृंगार के कवि हैं, यद्यपि उन्होंने भक्ति और नीति के भी मार्मिक दोहे रचे हैं।

बिहारी के शृंगारी दोहों में सामंती जीवन का वैभव-विलास ही नहीं चित्रित है, वे सामान्य गृहस्थ के दैनंदिन जीवन के भी सरस चित्र खींचते हैं। देवर, भाभी, जेठ, ननद, सास, पड़ोसिन, वैद्य, ज्योतिषी, खेत, बाग, सरोवर सब के संदर्भ में शृंगार के चित्र खींचते हैं। बिहारी का विषय सीमित है, लेकिन आधारफलक सीमित नहीं। शृंगार अन्य प्रकार के मनोविकारों से टकराता नहीं, इसलिए संकीर्ण लगता है। बिहारी बहुज्ञ थे, उन्होंने अपनी विस्तृत जानकारी का उपयोग अपनी रचनाओं में किया है। एकाध दोहों में उन्होंने सामंतों को ठीक मार्ग

पर चलने या नीति के पालन का उपदेश भी दिया है।

बिहारी अनुभवों के विधान से भाव की व्यंजना में निपुण हैं। यह उनका विशेष कौशल है। इसके लिए वे नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं का वर्णन निहाय सधे ढंग से करते हैं। इस बहुचर्चित दोहे में उनकी यह निपुणता देखी जा सकती है—

[बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौह करे भौहन हँसे, दैन कहै नटि जाइ॥]

लेकिन बिहारी जब काव्य-रूढ़ियों की सहायता से वस्तु-व्यंजना के लिए चमत्कार दिखाने लगते हैं, तब वे केशवदास के बहुत समान लगते हैं। ऐसे दोहों की अतिशयोक्ति मार्मिकता नहीं उत्पन्न कर पाती, अविश्वास या विनोद की कल्पना बन जाती है।

बिहारी के एकाध दोहे ऐसे भी हैं, जो उनके अनुरागी चित्त को सात अभिव्यक्ति हैं। जैसे यह दोहा—

[सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन हवै जात अजौ बहै, वा जमुना के तीर॥]

लेकिन यह निरलंकृति बिहारी के यहाँ दुर्लभ है। वे मूलतः उस शक्ति विदग्धता के कवि हैं जो उस समय हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाओं के साहित्य के सामंताश्रित कवियों के यहाँ मिलती है।

देव (1673-1767)

देव का जन्म 1673 में हुआ। इनकी मृत्यु का समय 1767 के आसपास माना जाता है। ये अनेक आश्रयदाताओं के यहाँ रहे और इन्होंने उनकी रुचि के अनुसार रचनाएँ कीं। इनके रचे ग्रंथों की संख्या काफी है। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—भावविलास, भवानीविलास, रसविलास, सुखसागर तरंग, अष्टयाम, प्रेमवर्णिका और काव्यरसायन।

देव रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों में से हैं। इनकी तुलना बिहारी से की जा सकती है। बिहारी बड़े कि देव, इसे लेकर हिंदी आलोचना में काफी लिखा गया है। देव ने भी लक्षण-ग्रंथ लिखे हैं। अतः इन्हें भी रीतिकाल के आचार्य कवियों की कोटि में रखा जा सकता है। किंतु देव मूलतः आचार्य नहीं, कवि ही थे।

देव में मौलिक रचनाकार की प्रतिभा और सहृदयता प्रचुर मात्रा में है। लोकप्रियता की दृष्टि से वे बिहारी से बहुत पीछे नहीं हैं। देव की काव्य-प्रतिभा

बिहारी से कहीं अधिक व्यापक है। उन्होंने प्रकृति के क्रियाकलाप को देखकर अनेक उत्तम रूपक बंधे हैं। जैसे इस कविता में—

डार डुम पालना बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन छवि भारी दे।
पवन झुलावै केकी-कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दे।
पूरित पराग सों उतारो करे राई लोन,
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दे।
मदन महीप जू को बालक वसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दे।

देव रीतिकाल के ऐसे दुर्लभ कवि हैं, जो रूढ़ियों की सहायता के बिना केवल स्थितियों की योजना से मार्मिकता पैदा करते हैं। इससे उनकी कविता में नाटकीयता आती है और जिन मनोविकारों या भावों का चित्रण किया जाता है वे साक्षात् हो उठते हैं। इसलिए देव में उत्कृष्ट बिंब-विधान पाया जाता है। जैसे इन पंक्तियों में—

[बड़े-बड़े नैनन सों आँसू-भरि-भरि डरि
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात।]

देव काव्य-कला के कुशल कवि हैं, किंतु चमत्कार या काव्य-रूढ़ियों के आधार पर रचना करने की प्रवृत्ति उनमें बिहारी की अपेक्षा कम है। इसीलिए उनमें चमत्कार करने की अपेक्षा रमाने की प्रवृत्ति अधिक है।

भूषण (1613-1715)

भूषण ने शिवाजी की तो प्रशंसा की ही है, छत्रसाल की भी की है। ये रीतिकाल के दो प्रसिद्ध कवियों, चिंतामणि और मतिराम के सगे भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कवि भूषण' कहा। फिर ये इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। वास्तविक नाम कुछ और रहा होगा। ये वीर रस के कवि थे। इन्होंने रीतिकाल की परंपरा में एक अलंकार ग्रंथ शिवराज भूषण भी लिखा है। इनके जो अन्य ग्रंथ मिलते हैं, वे हैं—शिवा बावनी और छत्रसाल-दसक।

रीतिकालीन कविता का प्रधान स्वर शृंगार का है। भूषण का स्वर वीरता का है। इसलिए ये रीतिकाल के विशिष्ट कवि हैं, लेकिन भूषण के महत्व पर विचार करते समय कुछ और बातों की ओर भी ध्यान जाता है। रीतिकाल में कुछ अन्य

कवियों ने भी वीरता की कविताएँ लिखी हैं, किंतु उनको भूषण की प्रसिद्धि नहीं मिली। इसका प्रमुख कारण यह है कि काव्योत्कर्ष की दृष्टि से वे इस क्षेत्र में भूषण जैसे कवि नहीं हैं। भूषण ने अपनी काव्य पंक्तियों में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है, जैसे अफ़जल ख़ाँ का शिवाजी द्वारा मारा जाना, राम शिवाजी का औरंगज़ेब द्वारा हत्या, सूरत पर शिवाजी का अधिकार, खजुवा का युद्ध, शिवाजी का औरंगज़ेब के दरबार में जाना आदि।

भूषण ओज के कवि हैं। उनकी कविता में टंकार के साथ-साथ झंकार भी सुनाई पड़ती है। वे कभी-कभी व्यंग्य भी करते हैं— दारा की न दौर यह राय खजुबे की। उनके यहाँ जो थोड़ी-बहुत भाषागत अव्यवस्था मिलती है, उसका कारण उत्साह का अतिरेक हो सकता है। भूषण काव्य-रीति में वीरता को ढालनेवाले कवि हैं। उनके काव्य में श्लेष आदि का पूरा उपयोग मिलता है। भूषण ने अपनी कविताओं में मुस्लिम शासक औरंगज़ेब द्वारा हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन पर क्षोभ प्रकट किया है। शिवाजी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है— सिवा जो न होत तो सुनत होत सबकी। उनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्द खुलकर प्रयुक्त हुए हैं। उनका एक प्रसिद्ध कवित्त इस प्रकार है—

[इंद्र जिमि जंभ पर, बाडव सुअंभ पर,

रावण सुदंभ पर रघुकुलराज हैं।

पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,

ज्यों सहस्रबाहु पर रामद्विजराज हैं।

दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर,

भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।

तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,

त्यों म्लेच्छ वंस पर सेर सिवराज हैं।]

मतिराम (1603-1701)

मतिराम रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि हैं। अनुमानतः इन्हें भी अपने भाई भूषण के समान दीर्घ आयु प्राप्त हुई थी। इनके ग्रंथों के नाम हैं— छंदसागर, रसराम, साहित्य सार, लक्षण शृंगार और ललित ललाम। रसराम और ललित ललाम इनके यश के आधार-ग्रंथ हैं।

मतिराम रीतिकाल में भाषा की प्रवाहमयता और भाव की सहजता के प्रतिमान हैं। उनकी शैली इतनी सहज है कि उनकी कविता अन्य रीतिकालीन कवियों से

अलग लगती है। वे रीतिकाल में व्याप्त चमत्कारिता से लगभग अछूते रचनाकार हैं। उनकी भाव-योजना बिल्कुल सीधी होती है। वे बात को घुमाकर कहने में विश्वास नहीं करते। वे काव्य-रुद्धियों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं। लक्षण-ग्रंथों के रचयिता होने के बावजूद उनके काव्य में अलंकृत पदयोजना बहुत कम मिलती है। मतिराम असामान्य स्थितियों का गुंफन नहीं करते। दैनंदिन जीवन की सामान्य स्थितियाँ कभी-कभी विशिष्ट संदर्भ में किस प्रकार अलौकिक अनुभूति करा जाती हैं, इस सीमा रूपमय जगत के खंड कभी-कभी किस प्रकार हृदय में संयोजित होकर अखंड और असीम का अनुभव कराकर हमें सार्थक कर जाते हैं, इसका पता मतिराम के अनेक पद्यों से लगता है। शृंगार के क्षेत्र में भक्त कवियों जैसी सहजता मतिराम की रचनाओं में मिलती है। रीतिकाल में इस दृष्टि से उनके सहचर केवल पद्याकर हैं। उनकी काव्यगत सहजता का उदाहरण है—

क्यों इन आँखिन सो निहसंक हवै मोहन को तन पानिप पीजै।

नेकु निहारे कलंक लगै, यही गाँव बसे कहु कैसे के जीजै॥

होत रहे मन यों, मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।

हवै वनमाल हिए लगिए अरु हवै मुरली अधरा-रस पीजै॥

पद्याकर (1753-1833)

पद्याकर का जन्म बाँदा में हुआ था। ये रीतिकाल के अत्यंत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कवि हैं। ये अनेक गुणग्राहकों द्वारा सम्मानित किए गए। सुगरा, सितारा, जयपुर, ग्वालियर के दरबारों में इनका आदर हुआ। हिम्मत बहादुर, जो बाँदा और अवध के नवाबों के सेना अधिकारी थे, के नाम पर इन्होंने हिम्मत बहादुर बिरुदावली लिखी। इनके द्वारा रचित अन्य ग्रंथ इस प्रकार हैं— जगद्विनोद, पद्याभरण, प्रबोध पचासा, राम रसायन, गंगा लहरी। जगद्विनोद लक्षण-ग्रंथ है।

पद्याकर भी मतिराम के समान भाषा और भाव की प्रवाहमयी सहजता के कारण लोकप्रिय हैं, किंतु पद्याकर की कविता शृंगार, भक्ति और वीरता तीनों भूमियों पर समान अधिकार के साथ रस का संचार करती है। विभिन्न भावों के अनुरूप भाषा को सहज तौर पर ढाल लेने में ये सिद्ध थे। पं. रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में— “इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है। पद्याकर के काव्य में कहीं-कहीं विदग्धता भी मिलती है, लेकिन वह केंद्रीय भाव में ढल जाती है। पद्याकर में बिहारी की तरह समुचित बाह्य चेष्याओं की

योजना द्वारा आंतरिक भाव को व्यंजित करने की प्रतिभा थी। किंतु इन चमत्कार-प्रियता नहीं, या नहीं के बराबर मिलती है।"

इनकी वीर रस की कविताओं में भूषण की तरह ही वीरोचित ओज तो है किंतु भाषा व्यवस्थित बनी रहती है। पद्याकर की गंगा लहरी में एक शांतकाव्य पद्याकर के काव्य में बुंदेलखंड की प्रकृति का सजीव चित्रण हुआ है। इनका काव्य-भाषा में अनुप्रासों की छटा देखते बनती है। बिहारी और पद्याकर को रीतिकाल के दो छोर कहा जा सकता है। बिहारी रीतिकाल के प्रारंभिक कवि हैं, तो पद्याकर अंतिम। यह कालावधि लगभग दो सौ वर्षों की है। पद्याकर के काव्य की विशेषता भावों को व्यंजित करने में समर्थ सजीव चित्र खींचने में है। नीचे दिए हुए सवैए से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी—

फागु की भीर अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी,
भाइ करी मन की पद्याकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
(जैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिरि आइयो खेलन होरी')।

गंग (16 वीं शती)

गंग अकबर के दरबारी कवि थे। अतएव इनका समय सोलहवीं शती रहा होगा। ये रेहम के मित्र थे। ये परम स्वाभिमानी रहे होंगे। गंग का व्यक्तित्व भाषा साहित्य में अनुपम है। इन्हें किसी सामंत ने हाथी से कुचल कर मरवा था। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। लेकिन समकालीन और परवर्ती कवियों ने इनका नाम अत्यंत सम्मान से लिया है। कहा गया है कि तुलसी गंग दुओ भए कवि के सरदार। इसी से कवि समाज के बीच इनके स्थान का अनुमान किया जा सकता है। इनकी जो कविताएँ मिलती हैं, वे प्रधानतः शृंगार की ही हैं। रस में थे ही, इसलिए उनके काव्य में विदग्धता भी थी। कुल मिला कर अपनी रस पद्धति से ये रीतिकाल के ही कवि ठहरते हैं।

गंग का एक कवित्त नीचे दिया जा रहा है—

शुकत कृपान मैदान ज्यों उदोत भानु एकन ते एक मानो सुषमा जल की।
कहै कवि गंग तेरे बल को बयारि लगे, फूटी गजघटा ज्यों सरद की।
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं रही न निसानी कहै महि में गद की।
गौरी गहो गिरिपति गनपति गहो गौरी, गौरीपति गहि पूछ लपकि बरद की।

अब तक हमने काव्य-रीति का ध्यान रखकर लिखने वाले उन कवियों पर विचार किया जिनमें से अधिकांश ने काव्यांग निरूपण को रचना का निमित्त बनाया है। अब हम उन कवियों पर विचार करेंगे जो भिन्न कोटि के हैं। ऊपर विवेचित कवियों को रीतिबद्ध कहा जाता है, क्योंकि ये काव्य-रीति को ध्यान में रखकर या उसी की सीमा में कविता करते हैं। जिन कवियों पर अब हम विचार करने जा रहे हैं, उन्हें रीतिमुक्त कवि कहा जाता है क्योंकि उन्होंने एक तो काव्यांग निरूपण को कविता का निमित्त नहीं बताया है और दूसरे, इनके यहाँ वर्ण्य विषय को लेकर एक प्रकार की विह्वलता या तन्मयता पाई जाती है। आधुनिक मुहावरे में कहें तो ये कवि प्रतिष्ठान की उपेक्षा या विरोध करने वाले हैं। बोधा ठाकुर ने लोगन्ह कबित्त कीबों खेल करि जान्यो है या घनानंद में लोग है लागि कबित्त बनावत, मोहे तो मेरे कवित्त बनावत लिखकर यही प्रकट किया है। रीतिवाद का विरोध रीतिकाल में होना ही था। घनानंद, आलम, बोधा ठाकुर आदि इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रमुख रीतिमुक्त कवि

घनानंद (1673-1739)

इनका जन्म 1673 के आसपास हुआ और 1739 में ये नादिरशाह के सैनिकों द्वारा मारे गए। सुजान सागर तथा सुजान संबोधन के आधार पर किंवदंती है कि सुजान नामक वेश्या को वे प्यार करते थे।

विराग होने पर वे वृंदावन चले गए और वैष्णव होकर काव्य-रचना करने लगे। 1739 में नादिरशाह के सिपाहियों ने इनसे जर, जर, जर, (तीन बार—सोना, सोना, सोना) माँगा। उन्होंने तीन मुट्ठी धूल उठाकर उन्हें यह कहते हुए दी, 'रज, रज, रज' (धूल, धूल, धूल)। इस पर क्रुद्ध होकर सैनिकों ने इनका हाथ काट डाला। मृत्यु के समय भी ये सुजान को नहीं भूले। कहा जाता है कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा—

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि परे हैं उठ जान को।
कहि-कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखत ही दै दै सनमान को।।
शुठि बतियानि की पत्यानि तें उदास हवै कै,
अब ना धिरत घन आनंद निदान को।

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को।

घनानंद के प्रमुख ग्रंथ ये हैं— सुजान सागर, सुजान संबोधन, विगल, कोकसार, रसकेलि बल्ली और कृपाकांड।

ये प्रेम की मस्ती विशेषतः वियोग शृंगार के कवि हैं। शुक्ल जी के अनुसार "प्रेम-मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ है।"

घनानंद प्रेम के गंभीर कवि हैं। वियोग में सच्चा प्रेमी जो वेदना सहा उसका चित्त में जो विभिन्न तरंगें उठती हैं, उनका चित्रण घनानंद ने किया। घनानंद वियोग-दशा का चित्रण करते समय अलंकारों, रूढ़ियों का सहारा लेते हैं। वे बाह्य चेष्टाओं पर भी कम ध्यान देते हैं। वे वेदना के ताप से मनोविषय या वस्तुओं का नया आयाम, अर्थात् पहले न देखा गया उनका कोई नया रूप देख लेते हैं। इसे ही ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने उन्हें 'लाक्षणिक मूर्तिमय प्रयोग वैचित्र्य' का ऐसा कवि कहा जैसे कवि उनके पीने दो सौ वर्ष का छायावाद-काल में प्रकट हुए। छायावाद के आलोचक इसी को 'परिचित अपरिचित सौंदर्य का उद्घाटन' कहते हैं। सच पूछिए तो सच्ची कविता और कवि ही क्यों, सच्ची कला-साधना का यही लक्षण है।

घनानंद 'घरी' यानी घड़ी-क्षण को 'भाग उधरी' यानी खुले भाग कहते हैं—

हवै है सोऊ घरी भाग उधरी

वे आँखों में उजाड़ बसे रहने की बात कहते हैं—

(उजरनि बसी है हमारी आँखियानि देखो)

शुक्ल जी ने देखा था कि घनानंद ने प्रेम की अनिर्वचनीयता को काव्य विरोधमूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति के आधार पर की है, जैसे—

झूठ की सचाई छाक्यो, त्यो हित कचाई पाक्यो,

ढकी उधरति है

खोयबो लहत हैं।

यह कोरी कलात्मकता नहीं। घनानंद की रचनात्मक शक्ति यह है कि कलात्मक शक्ति श्रोता-पाठक के हृदय की मार्मिकता में पर्यवसित हो जाती। इसीलिए घनानंद कलाकार हैं, कलावादी नहीं।

घनानंद की कविता में यह कलात्मकता सहजता में भी ढल जाती है।

उसमें वियुक्त हृदय की विवश चीत्कार सुनाई पड़ती है। ऐसी कविताएँ प्रायः प्रिय की निष्ठुरता की बात करती हैं। इस उत्कट और उन्मादी वियोग वर्णन के कारण ही घनानंद पर सूक्तियों का प्रभाव देखा जाता है—

कान्ह परे बहुतायत में इकलैन की वेदन जानो कहा तुम।

घनानंद पढ़े-लिखे काव्य कला मर्मज्ञ कवि थे। फ़ारसी अवश्य जानते रहे होंगे। उनकी काव्य पंक्तियों में संगीतात्मकता है। जैसे, इस पंक्ति में मृदंग की ध्वनि—

[आनंद निधान सुखदानि दुखियान दै।]

किंतु वे इस कलात्मकता को ऊपर उठाकर शुद्ध और निरीह भावभूमि पर पहुँचा देते हैं। उनकी कविता एक महान विषय प्रेम से जुड़ी है। शुद्ध प्रेम के तत्त्व को कलात्मकता जकड़ कर रोके नहीं रह पाती। अगर यह अनुश्रुति न होती कि 'सुजान' दरबारी नर्तकी थी, तो घनानंद संभवतः भक्त कवि माने जाते।

आलम (18 वीं शती)

आलम का काव्य ही नहीं जीवन भी स्वच्छंद एवं मुक्त था। ये ब्राह्मण थे, पर शोख नामक रंगरेजिन के प्रेम में पड़कर उससे विवाह कर लिया। शोख रंगरेजिन स्वयं सुकवयित्री थीं और इनका उससे प्रेम कविता के कारण हुआ। ये 18 वीं शती के कवि हैं। शोख की काव्य चातुरी और वाग्विदग्धता के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। आलम औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रय में रहते थे। इनकी कविताओं के संग्रह का नाम आलम केलि है। उसमें आलम के साथ शोख के भी कवित्त हैं। मध्य युग में कला के क्षेत्र में किसी दंपति की इतनी एकमेकता कम दिखाई पड़ती है।

जिस प्रकार वे जीवन में व्यर्थ बोझ उतार फेंक सके थे, उसी प्रकार काव्य में वे केवल सार्थक वक्तव्य के सहारे मार्मिकता पैदा कर सकते थे, अलंकार आदि का बोझ फेंक कर। आलम प्रेम की दीवानगी के कवि हैं। वे घनानंद, रसखान की कोटि के कवि हैं। मनोवेग जीवन के सामान्य आचरण में व्यक्त होता है, और संयोग तथा वियोग में क्या अंतर पड़ जाता है, इसे कवि ने बाह्य आचरण द्वारा चित्रित किया है—

जा थल कीर्ने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करें।

जा रसना सौं करी बहुबातन ता रसनासौं चरित्रा गुन्यो करें॥

बोधा (18वीं शती)

बोधा राजापुर, जिला बाँदा अर्थात् तुलसीदास की जन्मभूमि के रहने वाले थे। अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती के प्रारंभिक काल में ये विद्वान् कविता में प्रकट हैं। कहा जाता है कि पुन्ना दरबार की सुभान नामक वेश्या ने इन्हें प्रेम था और विरहवारीश उसी से संबंधित है। विरहवारीश के अंतिम इनकी एक रचना इश्कनामा मिलती है।

बोधा रसोन्मत्त कवि थे। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना इनके काव्य में मिलती है। ये किसी रीति पर न चलकर काव्य क्षेत्र में प्रेम के स्वच्छंद मार्ग चलने वाले कवि थे। स्वच्छंद मार्ग का मतलब यह है कि ये मन की उमंग कविता करते थे और मन की बात कहने में चूकते नहीं थे। इसलिए इनकी कविता में कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ भी मिलती हैं जो इनका अक्खड़पन के अनंत तेजस्वी स्वभाव प्रकट करती हैं। इसके साथ-ही-साथ वे दरबारी कवि के चरित्र के भिन्न और विपरीत कवि स्वभाव भी प्रकट करती हैं—

[दाता कहा सूर कहा सुंदर सुजान कहा

आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए।]

दूसरी ओर, बोधा प्रेम की अतीव मानवीय एवं संवेदनशील पहचान हैं। सच्चा प्रेमी प्रिय को प्राप्त करने की धुन में कितना अधीर होते हैं। कम-से-कम अपनी ही दृष्टि में कितना संयम बरतता है, इसका ढ़ंङ कि असह्य होता है, फिर उसे किसी से न कह सकने की पीड़ा। प्रेम मन की स्थितियों का समुच्चय है, इसे बोधा ने इस सवैया में व्यक्त किया है—

कबहुँ मिलिबो कबहुँ मिलिबो यह धीरज ही मैं धरैबो करै,
उर ते कढ़ि आवै गरै ते फिरै मन की मन ही मैं सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाउ सिरी कबहुँ नितही हरवा सो हिरैबो करै,
सहते न बनै कहते न बनै मन ही मन पीर फिरैबो करै।

ठाकुर (1774-1823)

ठाकुर के पूर्वज काकोरी (अवध) के निवासी थे। इनका जन्म ओरछा में हुआ। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि सामंत हिम्मत बहादुर के, जिनका उल्लंघन उनके प्रसंग में हो चुका है, अपमान करने पर इन्होंने उनकी सभा में ही तलवार निकाल ली थी और यह कवित्त पढ़ा था—

[सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान जुड़ जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनबारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विमुड़ है, सनेही साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जलिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, वे चाकर चतुर के।]

ठाकुर की कविता के दो तेवर हैं। एक उनका क्षुद्रताओं और अमानवीयता से टकराने वाला रूप है, जहाँ वे आक्रामक होते हैं। उनकी कविता से यह प्रकट होता है कि वे भाव-बोध का चालूपना नहीं सह पाते थे। वे कविता को हृदय की सच्ची उमंग की अनुभूति मानते थे। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि मीन मृग खंजन जैसे उपमानों का प्रयोग सीख लेने से कविता नहीं आती। उनका कहना था कि कविता की बात बहुत बड़ी होती है, लोग सभी के बीच कविता ऐसी गिराते हैं मानो डेला। लोगों ने कविता करना खेल समझ रखा है—

[खेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच लोगन
कवित कौनों खेल करि जान्यो है।]

ठाकुर का दूसरा तेवर अत्यंत मानवीय, करुण, कोमल एवं सूक्ष्म संवेदनशील है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्तित्व के ये दोनों परस्परविरोधी तेवर वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं।

ठाकुर मध्यकाल के उन दुर्लभ कवियों में से हैं जिनकी प्रेम की अनुभूति आधुनिक है। प्रेमी प्रिय का तन भी चाहता हो लेकिन तन से अधिक उसका मन चाहता है। प्रिय का मन प्रेमी का मुख्य प्राप्य है। मन स्थूल नहीं है। अतः वह दूर रहते भी प्राप्त हो जाता है। वह पूरी तरह न भी मिले, उसमें शोभ या हलचल भी पैदा हो जाए तो सच्चे प्रेमी को काफ़ी राहत मिल जाती है। इसी मनःस्थिति को चित्रित करने वाला यह सवैया रीतिकाल की अन्य प्रेम कविताओं से कितना अलग है। शुक्ल जी ने लोभ और प्रीति नामक निबंध में इसकी व्याख्या की है—

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति हवै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति हवै है।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति हवै है।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति हवै है॥

प्रकृति के प्रेम के रंग में डूबकर स्वयं राधा-कृष्ण के प्रेम का प्रतीक जाने का यह चित्रण कलाकारी नहीं, चराचर में व्याप्त प्रेम की सत्ता को भास से संभव हुआ है—

सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नंदगाँव पै री।

गुरु गोविंद सिंह (1666-1708)

सिखों के दसवें गुरु गोविंद सिंह का जन्म सन् 1666 में पटना में हुआ था। स्वर्गवास अल्पायु में (1708 में) ही में हो गया।

गुरु गोविंद सिंह का व्यक्तित्व बहु-आयामी था। वे मध्यकालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के प्रतीक थे। वे योद्धा, संत, राजनीतिज्ञ, कवि, प्रशासक कुछ थे।

गुरु गोविंद सिंह के रचित अनेक ग्रंथ बताए जाते हैं। इनकी रचनाओं का संग्रह का नाम दशम ग्रंथ है। इसमें 16 रचनाएँ संकलित हैं। इन्होंने पंजाबी, फ़ारसी और हिंदी (ब्रजभाषा) में काव्य-रचना की है। इनका संप्रदाय देखते ही उन्हें निर्गुण कवि होना चाहिए, किंतु इन्होंने देवी-देवताओं और सगुण का संबंधित रचनाएँ भी की हैं। चंडीचरित्र इनकी विशिष्ट साहित्यिक रचना है। इसकी शैली ओजस्विनी है। गुरु जी की रचनाओं में वीर रस प्रधान है, जो इनकी मुख्य भूमि भक्ति है। चौबीस अवतार नामक रचना में शृंगार का पर्याप्त रंग दिखलाई पड़ता है। गुरु जी महाराज काव्य-रीति के मर्मज्ञ। रीतिकाल में इनका व्यक्तित्व और कृतित्व अनुपम है। हिंदी में भक्त-भक्ति काव्य तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, किंतु वीरजनों द्वारा रचित काव्य नहीं मिलता। इस दृष्टि से गुरु गोविंद सिंह के काव्य का विशिष्ट महत्व है।

बीरबली सरदार दयैत सु क्रोध के म्यान तै खड्ग निकारै।

एक दयो तन चंडि प्रचंड के दूसर के हरि के सिर झारै।

चंडि सम्हारि तबे बलु धारि लयौ गहि नारि धरा पर मारै।

ज्यों धुबिया सरिता-तट जाइकें लै पट को पट साथ पछारै॥

रीतिकाल की सामान्य विशेषताएँ

रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इस काल में भक्ति, नीति, वीरता आदि के अनेक अच्छे कवि हुए हैं।

रीतिकाल का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ, उनकी चर्चा पृष्ठ 71

बुकी है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि रीतिकालीन कविता का अधिकांश दरबारों में लिखा गया। दरबारीपन इसकी प्रमुख प्रवृत्ति है। रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाताओं के जीवन में आदिकालीन कवियों के आश्रयदाताओं की लड़ाई-भिड़ाई की आवश्यकता नहीं थी। वे मुगल सम्राटों की अधीनता में भोग-विलास के लिए स्वतंत्र थे।

अतः उनकी रुचि का ध्यान रखकर काव्य रचने वाले कवियों में शृंगार-परकता अनिवार्य थी। उधर भक्ति में धार्मिकता और लोकोन्मुखता का आवेश कम होने पर शृंगार बच रहा। कवियों ने राधा-कृष्ण का नाम लेकर आश्रयदाताओं की शृंगार लीलाओं का वर्णन प्रारंभ कर दिया।

रीतिबद्धता

आगे के सुकवि रीति हैं तो कविताई नाहि तौ राधा-कन्हैया को सुमिरन को बहानो हैं— यह रीतिकाल के कवियों का आदर्श वाक्य था। शृंगार की प्रधानता के कारण कुछ लोग इसे शृंगार काल कहना उचित समझते हैं। किंतु इस काल की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति रीति ही थी, क्योंकि भूषण जैसे वीर रस के कवि ने भी रीतिग्रंथ की रचना की है। अतः रीति में वीर रस के कवि भूषण आ जाते हैं। शृंगार कहने से ऐसे कवि छूटकर अलग जा पड़ते हैं।

इस काल में कहने को यद्यपि कुछ प्रबंध-काव्य, जैसे केशवदास का वीरसिंह देवजू चरित, भी लिखे गए, किंतु प्रधानता मुक्तक की ही रही। इस काल के प्रबंध-काव्य वस्तुतः आदिकाल की परंपरा का निर्वाह मात्र हैं। कवित्त, सवैया, दोहा, कुंडलिया— इस काल के बहु-प्रयुक्त छंद हैं। इस काल की भाषा ब्रजभाषा थी। ब्रजभाषा का रूप यद्यपि सभी कवियों के यहाँ व्यवस्थित नहीं मिलता, किंतु मतिराम एवं पद्माकर में वह पर्याप्त व्यवस्थित है। विषयवस्तु की दृष्टि से इस काल की कविता बहुत सीमित है। प्रधानतः शृंगार और उसमें नायिका-भेद ही मिलता है। किंतु रीतिपरक सूक्तियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं। रहीम, वृंद, गिरधर आदि की नीतिपरक रचनाएँ बहुत लोकप्रिय रहीं। इसी प्रकार भक्ति की रचनाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं, यद्यपि ये भक्तिकालीन आवेश से रहित हैं।

रीतिकाल में काव्यांग निरूपण काव्य-रचना का निमित्त मात्र है। इससे काव्य-शास्त्र का विकास नहीं हुआ। अतः रीतिकाल के तथाकथित आचार्यों द्वारा हिंदी के काव्यशास्त्र की नींव नहीं पड़ी। उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। विकसित

गद्य का अभाव वास्तविक काव्यांग निरूपण न हो पाने का कारण है।

इस काल में सरस मनोरम मुक्तक प्रभूत संख्या में लिखे गए। इस काल की कविता की प्रधान प्रवृत्ति किसी भी दार्शनिक विचारधारा से मुक्त है। इसीलिए कुछ लोग उसे 'शुद्ध साहित्यिक' अथवा 'शुद्ध काव्य' भी कहना उचित समझते हैं। रीतिकालीन मुक्तकों की लोकप्रियता का ही यह प्रमाण है कि जिस प्रकार संस्कृत के सुभाषितों का संकलन होता था, उसी प्रकार रीतिकालीन मुक्तकों का संकलन-ग्रंथों की भी परंपरा चली। कालिदास (रीतिकालीन कवि) ने कालिदास हजारा में और भारतेन्दु ने सुन्दरी तिलक में रीतिकालीन मुक्तकों का संकलन किया है।

रीतिकाल की प्रमुख काव्य-प्रवृत्ति अर्थात् काव्य-रीति को ध्यान में रखकर नायिका-भेद आदि का वर्णन तो आगे बहुत दिनों तक चलता रहा। अभी भी यह पूरा समाप्त नहीं हुआ है। बात यह है कि इस प्रकार के मुक्तकों की रचना के श्रवण का चाव हिंदी भाषी जन-जीवन में अपनी गहरी जड़ें जमा चुका है। इसीलिए आधुनिक युग के प्रवर्तन के उपरांत भी ब्रजभाषा काव्य-परंपरा पूर्ण रूप से के साथ बहुत दिनों तक प्रवाहित होती रही। यदि ब्रजभाषा काव्य-धारा समाप्त न होती तो खड़ी बोली से उसकी इतनी जोरदार टक्कर न होती।

किंतु इस विषय में एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। सारा ब्रजभाषा काव्य काव्य-रीति धारा में बद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतेन्दु ब्रजभाषा का उपयोग रीतिवादी परंपरा में भी करते हैं और आधुनिकता-बोध की रचनाएं भी। ब्रजभाषा में रीतिवादी काव्य की उल्लेखनीय परंपरा बाबू जगन्नाथ 'रत्नाकर' बी. ए. तक मिलती है।

रीतिकाल के आधुनिक अवशेष

द्विजदेव (19 वीं शती)

द्विजदेव भी पद्माकर, मतिराम की ही परंपरा में हैं। अयोध्या नरेश महाराज कवि 'द्विजदेव' अत्यंत सहृदय एवं समर्थ कवि थे। शुक्ल जी के अनुसार, "जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखने वाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं, उसी प्रकार समूची शृंगार-परंपरा में इनकी-सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कवि फिर दुर्लभ हो गई।"

द्विजदेव ने शृंगार के सहज-सामान्य चित्र खींचे हैं। ऋतु-वर्णन में इनका हृदय खूब रमा है। प्रकृति-छवियों में इनका मन रम गया है। भाषा इनकी सरल

सरल, प्रवाहमयी है। वसंत के इस वर्णन में इनकी सहृदयता देखी जा सकती है—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद लवा बरसाये करें।

रवि नाच लतागन तानि वितान सबै विधि चित्त चुरायों करें।

द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि चारन की रति गायों करें।

चिरजीवों बसंत सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायों करें।

गिरिधर दास (भारतेन्दु के पिता), सेवक, रीवा नरेश महाराज रघुराज सिंह, लछिराम भट्ट आदि इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं। इसी परंपरा में बाबा रघुनाथ राम सनेही और ललित किशोरी जैसे भक्त कवि भी हुए। बाबा दीनदयाल गिरि ने उत्कृष्ट अन्योक्तियाँ कहीं।

इस परंपरा में भारतेन्दु (1850-1885) और उनके मंडल के कवियों की स्थिति विशिष्ट है। वे परंपरा से अंशतः जुड़े हैं और आधुनिकता का वेग भी झेल रहे हैं। परंपरा में भक्ति काव्य और रीति काव्य हैं। भारतेन्दु के यहाँ यह सारी अभिव्यक्ति ब्रजभाषा में ही होती है। खड़ी बोली का उपयोग वे उर्दू काव्य-रचना के लिए 'रसा' उपनाम से करते हैं। यहाँ भारतेन्दु की ब्रजभाषा के तीनों रूपों का एक-एक उदाहरण देखना समीचीन होगा—

भक्ति काव्य की गेयपद परंपरा—

[ब्रज के लता पता मोहि कीजै,

गोपी पद पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।

आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै,

श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह माग्यौ हरि दीजै।]

रीति काव्य की परंपरा—

जिय सूधी चितौन की साथै रही,

सदा बातन मैं अनखाय रहे।

हँसि कै हरिचंद न बोले कभी,

जिय दूरहि सो ललचाय रहे।

नहिं नेक दया उर आवत है,

करिकै कहा ऐसो सुभाय रहे।

सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,

जिहि के बदले यों सताय रहे।

आधुनिक बोधयुक्त काव्य—

रवि बहुविधि के वाक्य पुरानन माहिं धुसाए,

सैव साक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए।
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो,
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।

यही स्थिति न्यूनाधिक मात्रा में प्रतापनारायण मिश्र (1856-1893), उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1913), पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1941), राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' (1868-1914) आदि की भी है। श्रीधर पाठक (1859-1928) का ब्रजभाषा काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य-परंपरा से काफ़ी मुक्त और स्वच्छंद (रोमांटिक) है। हिमालय की शोष का जो वर्णन उन्होंने किया है वह ब्रजभाषा काव्य के लिए बिल्कुल नई चीज है। वस्तुतः श्रीधर पाठक के ब्रजभाषा काव्य पर नई चेतना का जो प्रभाव पड़ा है वह साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भारतेंदु-युग के आगे की संवेदन है। भारतेंदु के यहाँ प्रकृति का ऐसा स्वरूप खुलकर नहीं आता। पं. रामचंद्र शुक्ल के ब्रजभाषा काव्य के अधिकांश को इसी स्वच्छंद काव्य की कोटि में रखा जाना चाहिए। वियोगी हार (1896) ने ब्रजभाषा में वीर सतसई की रचना की।

ब्रजभाषा काव्य-परंपरा में बीसवीं शताब्दी में सर्वाधिक उल्लेखनीय रचना सत्यनारायण कविरत्न (1859-1918) और बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (1866-1932) की हैं। सत्यनारायण जी का प्रधान क्षेत्र ब्रजभाषा में काव्यानुकूला रहा। भवभूति के दो नाटकों उत्तर रामचरित तथा मालती माधव के उनके अनूदित रूप बहुत लोकप्रिय एवं विख्यात हुए। उन्होंने मैकॉले के अंग्रेज खंड-काव्य होरेशस* का भी अनुवाद किया था। उनके दो काव्य संग्रह हैं- प्रेमकली और भ्रमरदूत। भ्रमरदूत में यशोदा ने भ्रमर के माध्यम से कृष्ण के लिये संदेश भेजा है। कहने को यह काव्य संदेश-काव्य की परंपरा में है, किंतु ध्यान देना चाहिए कि संदेश-काव्य प्रायः शृंगारी भावनाओं को ही लेकर चलें हैं। यह संदेश-काव्य वात्सल्य का है। यह एक प्रकार से संबंधों की व्यापकता का साहित्य पर प्रभाव है। सत्यनारायण जी ने समसामयिक विषयों और राष्ट्रीय नेताओं से संबंधित विषयों पर भी रचनाएँ की हैं।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (1866-1932) को ब्रजभाषा का आधुनिक काल में अंतिम बड़ा कवि कहा जा सकता है। उनके काव्य के माध्यम में ब्रजभाषा जैसे पूरे प्रयत्न के साथ खड़ी बोली काव्य की तुलना में अपने प्राचीन

वैभव की याद दिला रही हो। रत्नाकर जी के हरिश्चंद्र, गंगावतरण और उद्धवशतक काव्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन आख्यानों को लेकर ही ब्रजभाषा काव्य की समृद्धि की। इसी काल में या उसके थोड़ा पहले से ही खड़ी बोली के कवि भी प्राचीन आख्यानों को आधार बनाकर काव्य रचना कर रहे थे। उदाहरण के लिए, प्रिय-प्रवास में हरिऔध ने कृष्ण आख्यान की नए युग-बंध के अनुकूल व्याख्या की है। उन्होंने कृष्ण को बीसवीं शती के स्वाधीनता आंदोलन का नायक बना दिया। रत्नाकर की प्रबंधात्मकता में ऐसी कोई बात नहीं है। रत्नाकर अंग्रेजी के विद्वान थे। उन्होंने पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म'* का रोला छंद में अनुवाद किया था। किंतु उनकी रुचि रीतिकालीन थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि रत्नाकर के ब्रजभाषा काव्य में रीति-परंपरा एक बार फिर बीसवीं शती के पाठक को भी चमत्कृत कर जाती है। सादृश्य-विधान, पर्यवेक्षण की क्षमता, बात कहने का सलीका, शब्द-मैत्री, ध्वनियों के आवर्त इत्यादि में रत्नाकर अपने समकालीन कवियों में उच्च पद के अधिकारी हैं। प्रिय के स्थूलतः दूर होने पर वह हृदय में और गहरे कैसे समा जाता है, इसका उदाहरण दर्पण के माध्यम में कैसा सटीक है—

ज्यों-ज्यों बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्राण मूरि।

त्यों-त्यों धसे जात मन मुकुर हमारे मैं ॥

किसी विशिष्ट स्थिति में पात्रों के बाह्यांतर को साक्षात् कर देना रत्नाकर को खूब आता है—

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,

पेखि पेखि पाती छाती छेहनि छवै लगौ।

हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,

हमको लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगौ।

इस पर भी रत्नाकर का काव्य कुल मिलाकर अपने युग का श्रेष्ठ काव्य नहीं हो सकता था। पं. नंददुलारे वाजपेयी ने उनके काव्य की इस कमजोरी का संकेत करते हुए ठीक ही लिखा था, "जो काव्य अनिवार्य नहीं वह सारी कलात्मकता के बावजूद श्रेष्ठ नहीं हो सकता।"

ऊपर जिन ब्रजभाषा कवियों की चर्चा की गई है, उनमें से अनेक ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना त्याग कर खड़ी बोली को अपनाया। उनमें से कई

* Horatius (Thomas Babington Macaulay)

* Essay on Criticism (Alexander Pope)

१. मुक्तक काव्य

१. चिन्तामणि : कविकुलकल्पतरु, रसविलास, काव्यविवेक, शृंगारमंजरी, काव्यप्रकाश, छन्द-विचार।
२. मतिराम : रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपंचाशिका, वृत्तकौमुदी।
३. भूषण : (i) शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक।
(ii) अलंकारप्रकाश, छन्दोहृदयप्रकाश।
४. बिहारी : सतसई।
५. गोविन्दसिंह : सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर।
६. तोष : सुधानिधि, नखशिख, विनयशतक।
७. रसनिधि : रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीति-संग्रह, अरिल्ल, हिंडोला, सतसई।
८. जसवन्तसिंह : अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्त-बोध, सिद्धान्तसार, भाषाभूषण, स्फुट छन्द।
९. कुलपति मिश्र : रसरहस्य, नखशिख, युक्तिरंगिणी, दुर्गाभक्तिरंगिणी (चन्द्रिका)।
१०. मण्डन : रसरत्नावली, रसविलास, नखशिख, काव्यरत्न, नैनपचासा, जनकपचीसी।

११. आलम	:	आलमकेलि।
१२. वृन्द	:	सतसई।
१३. पदुमनदास	:	काव्यमंजरी।
१४. करन कवि	:	साहित्यरस, रसकल्लोल।
१५. कालिदास त्रिवेदी	:	कालिदास हजारा, वरवधूविनोद, जंजीराबन्द, राधामाधव- बुधमिलन विनोद।
१६. लाल कवि	:	विष्णुविलास।
१७. माखन	:	श्रीनागपिंगल छन्दविलास।
१८. कुमारमणि	:	रसिकरसाल, रसिकरंजन।
१९. देव	:	भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रेमचन्द्रिका, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, देव- चरित्र, काव्यरसायन, सुखसागरतरंग, देवशतक, प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक।
२०. सुरति मिश्र	:	अलंकारमाला, रसरत्नमाला, रससरस, रसग्राहकचन्द्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धान्त, रसरत्नाकर, भक्तिविनोद, शृंगारसागर।
२१. जोधराज	:	हम्मीररासो।
२२. उदयनाथ कवीन्द्र	:	रसचन्द्रोदय, विनोदचन्द्रिका, जोगलीला।
२३. नृप शम्भू	:	नायिकाभेद, नखशिख।
२४. कृष्णभट्टदेव ऋषि	:	शृंगाररसमाधुरी।
२५. जयकृष्ण भुजंग	:	पिंगलरूपदीपमाषा।
२६. श्रीपति	:	काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकारगंगा।
२७. गोप	:	रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण।
२८. याकूब खाँ	:	रसभूषण।
२९. घनानन्द	:	सुजानहितप्रबन्ध, कृपाकन्दनिबन्ध, वियोगबेलि, इश्कहाता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक छन्द आदि।
३०. रसलीन	:	अंगदर्पण, रसप्रबोध, स्फुट छन्द।
३१. सोमनाथ	:	रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, प्रेमपचीसी।
३२. दलपतिराय वंशीधर	:	अलंकाररत्नाकर।
३३. रसिक सुमति	:	अलंकारचन्द्रोदय।
३४. मिस्त्रीदास	:	काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, रससारांश, छन्दार्णव पिंगल, छन्दप्रकाश।
३५. कृष्ण कवि	:	अलंकारकलानिधि, गोविन्दविलास।
३६. नृपति	:	सतसई, कण्ठाभूषण, रसरत्नाकर।

३७. रघुनाथ	:	काव्यकलाधर, रसिकमोहन, रसरहस्य, इशकमहोत्सव, सभासार।
३८. दूलाह	:	कविकुलकण्ठाभरण, स्फुट छन्द।
३९. हितवृन्दावनदास	:	स्फुट पद (अब तक २०,००० पद उपलब्ध हुए हैं)।
४०. गिरिधर कविराय	:	अनेक स्फुट छन्द।
४१. गुमान मिश्र	:	अलंकारदर्पण।
४२. चन्दन	:	शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश, सतसई, पथिकबोध, तत्त्वसंग्रह, नखशिख, प्राशविलास, पत्रिकाबोध।
४३. ब्रजवासीदास	:	ब्रजविलास।
४४. बेरीसाल	:	भाषाभरण।
४५. शिवनाथ	:	रसवृष्टि।
४६. उजियारे	:	युगलरसप्रकाश, रसचन्द्रिका।
४७. जनराज	:	कवितारसविनोद।
४८. सेवादास	:	नखशिख, रसदर्पण, गीतामाहात्म्य, अलबेले लाल जू को नखशिख, राधासुधाशतक, रघुनाथ अलंकार।
४९. रामसिंह	:	अलंकारदर्पण, रसशिरोमणि, रसनिवास, रसविनोद।
५०. रतन कवि	:	फतेप्रकाश, अलंकारदर्पण।
५१. हठी जी	:	श्रीराधासुधाशतक।
५२. बोधा	:	विरहवारीश, इशकनामा।
५३. रामसहाय	:	सतसई, वृत्तरंगिणी, वाणीभूषण।
५४. नन्दकिशोर	:	पिंगलप्रकाश।
५५. दशरथ	:	वृत्तविचार।
५६. रसिकगोविन्द	:	रसिकगोविन्दानन्दधन, पिंगल, रसिकगोविन्द, युगलरस-माधुरी, समयप्रबन्ध, ललितमनचन्द्रिका, अष्टदेशभाषा।
५७. समनेस	:	काव्यभूषण, रसिकविलास, पिंगल।
५८. जयवन्तसिंह द्वितीय	:	शृंगारशिरोमणि।
५९. पद्माकर	:	जगदिनोद, पद्माभरण, गंगालहरी, प्रबोधपचासा, कलि-पञ्चीसी, प्रतापसिंह विरुदावली, स्फुट छन्द।
६०. पञ्चनेस	:	स्फुट छन्द।
६१. प्रतापसाहि	:	व्यंग्यार्थकौमुदी, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, शृंगार-मञ्जरी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिन्तामणि, काव्य-विनोद, युगलनखशिख।
६२. बेनीबंदीजन	:	टिकैतराय प्रकाश, मड़ौवा संग्रह, रसविलास।
६३. बेनी 'प्रवीण'	:	नवरसतरंग, शृंगारभूषण, नानारावप्रकाश।
६४. जगतसिंह	:	साहित्यसुधानिधि।

६५. गिरिधरदास	: रसरत्नाकर, भारतीभूषण, उत्तरार्धनायिकाभेद।
६६. दीनदयालगिरि	: अन्योक्तिकल्पद्रुम, अनुरागबाग, वैराग्यदिनेश, दृष्टान्त तरंगिणी।
६७. अमीरदास	: सभामंडन, वृत्तचन्द्रोदय, ब्रजविलास, सतसई, श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु, शेरसिंहप्रकाश।
६८. ग्वाल	: यमुनालहरी, भक्तभावन, रसिकानन्द, रसरंग, कृष्ण जू को नखशिख, दुषणदर्पण, राधामाधवमिलन, राधाष्टक, कवि हृदयविनोद, कविदर्पण, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, कुब्जाष्टक, षड्भृत्यवर्णन, अलंकारभ्रमभंजन, रसरूप, दृगशतक।
६९. चन्द्रशेखर वाजपेयी	: रसिकविनोद, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, हरिमानसविलास।
७०. नवीन	: रंगतरंग, सुधासर।
७१. द्विजदेव	: शृंगारललितक, शृंगारबत्तीसी, शृंगारचालीसी, कविकल्पद्रुम।

२. प्रबन्ध काव्य

१. चिन्तामणि	: रामायण, रामाश्वमेध, कृष्णचरित।
२. गोविन्दसिंह	: चण्डीचरित्र।
३. मंडन	: जानकी जू का व्याह, पुरन्दरमाया।
४. कुलपति मिश्र	: द्रोणपर्व (संग्रामसार)।
५. लालकवि	: छत्रप्रकाश।
६. सूरति मिश्र	: रामचरित, श्रीकृष्णचरित।
७. श्रीधर	: जंगनामा।
८. सोमनाथ	: पंचाध्यायी, सुजानविलास।
९. रघुनाथ	: जगतमोहन।
१०. गुमान मिश्र	: नैषधचरित (काव्यकलानिधि)।
११. सुदन	: सुजानचरित।
१२. रामसिंह	: जुगलविलास।
१३. चन्दन	: सीतवसन्त, कृष्णकाव्य।
१४. पद्माकर	: हिम्मतबहादुर विरुदावली।
१५. रसिकगोविन्द	: रामायणसूचनिका।
१६. ग्वाल	: हम्मीर हठ, विजयविनोद, गोपीपच्चीसी।
१७. चन्द्रशेखर वाजपेयी	: हम्मीर हठ।

३. नाटक

१. जसवन्तसिंह	: प्रबोधचन्द्रोदय नाटक।
---------------	-------------------------

२९२ :: हिन्दी-साहित्य का इतिहास

- | | | |
|----------------|---|-----------------------|
| २. राम | : | हनुमान नाटक। |
| ३. नेवाज | : | शकुन्तला नाटक। |
| ४. सोमनाथ | : | माधवविनोद नाटक। |
| ५. देव | : | देवमायाप्रपंच नाटक। |
| ६. ब्रजवासीदास | : | प्रबोधचन्द्रोदय नाटक। |